अनुक्रमणिका

इकाई संख्या	इकाई	पृष्ठ संख्या
इकाई–1	भू–आकृति विज्ञान का अर्थ व परिभाषा	
इकाई–2	भू–आकृति विज्ञान की प्रकृति व विषय–वस्तु	
इकाई–3	भ्वाकृतिक संकल्पनायें	
इकाई–4	भू–संचलन	
इकाई–5	अन्तर्जात बल	
इकाई–6	बहिर्जात बल	
इकाई–7	आकस्मिक संचलन : ज्वालामुखी व भूकम्प	
इकाई–8	समस्थिति व प्लेट विवर्तनिकी	
इकाई–9	ब्राह्यजात बल (अनाच्छादन)	
इकाई–10	अपक्षय (अर्थ व प्रकार)	
इकाई–11	वृहत् संचलन व मृदा निर्माण	
इकाई–12	ढाल विकास	
इकाई–13	भ्वाकृतिक प्रक्रियाएँ (अपरदन)	
इकाई–14	नदी के कार्य	
इकाई–15	हिमानी के कार्य	
इकाई–16	पवन के कार्य	
इकाई–17	सागरीय जल (तरंगें) के कार्य	
इकाई–18	कार्स्ट स्थलाकृतियाँ	
इकाई–19	अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान	

इकाई –1

मौलिक संकल्पना

इकाई की रूपरेखा

1.1 भू–आकृति विज्ञान : अर्थ व परिभाषा

1.2 भू–आकृति विज्ञान : प्रकृति

1.3 भू–आकृति विज्ञान : विषय वस्तु

1.4 भ्वाकृतिक संकल्पनायें

1.5 सारांश

KEXAMS

इकाई–1

भू–आकृति विज्ञान (Geomorphology)

भू–आकृति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा–

भू–आकृति विज्ञान, भौतिक भूगोल की महत्वपूर्ण शाखा है। इसमें ग्लोब (पृथ्वी) के स्थलमण्डल (Lithosphere) के उच्चावचों, उनके निर्माण प्रक्रमों तथा उनके एवं मानव के अंर्तसंबंधों का अध्ययन किया जाता है। भू–आकृति विज्ञान शब्द भू, आकृति एवं विज्ञान नामक तीन शब्दों से मिलकर बना है। इनमें भू से तात्पर्य पृथ्वी, आकृति से तात्पर्य स्वरूप एवं विज्ञान से तात्पर्य व्यवस्थित तार्किक विवेचना से है। इस तरह पृथ्वी के स्वरूप की व्यवस्थित तार्किक विवेचना भू–आकृति विज्ञान है।

यह अंग्रेजी के Geomorphology का हिंदी रूपांतर है। Geomorphology शब्द ग्रीक भाषा के Ge, Morpho एवं logy से बना है जिसका अर्थ क्रमशः पृथ्वी (Earth) रूप (Form) एवं वर्णन (Dicaurse) करना है, अर्थात् भू–आकृति विज्ञान पृथ्वी के रूपों (उच्चावचों या स्थलरूपों) का वर्णन है।

परिभाषा–

भू–आकृति विज्ञान की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी प्रमुख परिभाषाएँ निम्न है–

1. अमरीकन भूगोलवेत्ता **लोबेक** के अनुसार, "भू–आकृति विज्ञान भूपत्ल के धरातीय लक्षणों का विज्ञान है।"

2. **वॉन एनजेला** के अनुसार, "भू–आकृति विज्ञान केवल स्थल रूपों का विज्ञान ही नहीं, अपितु इसके अंतर्गत समस्त पृथ्वी की आकृति, विन्यास तथा इसकी बही इकाइयों की व्यवस्था का भी अध्ययन होता है।"

3. **स्वहलर** के अनुसार, "भू–आकृति विज्ञान सभी प्रकार के स्थलरूपों की उत्पत्ति उनके व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विकास की व्याख्या करता है तथा यह भौतिक भूगोल का एक प्रमुख अंग है।"

KEXAMS

4. वारसेस्टर के अनुसार, "भू–आकृति विज्ञान पृथ्वी के उच्चावचन संबंधी लक्षणों का व्याख्यात्मक वर्णन है।"

5. थार्नवरी के अनुसार, "भू–आकृति विज्ञान स्थल रूपों का विज्ञान है तथा यह इसी रूप से प्रयुक्त होगा, यद्यपि इसमें हमें सागरीय आकृतियों को भी शामिल करना चाहिए।"

अतः भू–आकृति विज्ञान वह विज्ञान है जिसके अन्तर्गत धरातल के विभिन्न स्थलरूपों की विशेषताओं उनकी उत्पत्ति की प्रक्रियाओं, उनके निर्माण एवं संलग्न भ्वाकृतिक प्रक्रमों के स्वरूप एवं क्रिया–विधियों, मानवीय कारकों, स्थलरूपों की रचना सामग्री अर्थात् भौमिकीय संरचना का समय के परिवेश में व्याख्यात्मक अध्ययन किया जाता है।

भू–आकृति विज्ञान की प्रकृति–

भू–आकृति विज्ञान में मुख्य रूप से स्थलरूपों का अध्ययन है, जिसके अंतर्गत भूपत्ल एवं सागर नितल के विभिन्न रूपों, उनकी उत्पत्ति तथा ऐतिहासिक विकास के व्याख्यात्मक विवरण का अध्ययन किया जाता है। भू–आकृति विज्ञान की प्रकृति में अध्ययन किए जाने वाले उच्चावचनों को निम्न तीन श्रेणियों में रखा जाता है।

(1) प्रथम श्रेणी के उच्चावच– इसमें महाद्वीप तथा महासागरीय बेसिन को शामिल करते हैं। इनके विवरण, वर्तमान प्रारूप तथ उत्पत्ति का अध्यनय किया जाता है।

(2) द्वितीय श्रेणी के उच्चावच– इसमें पृथ्वी के अंतर्जात बलों द्वारा उत्पन्न रचनात्मक स्थलाकृतियों के अध्ययन हेतु पृथ्वी के अंतर्जात बलों द्वारा उत्पन्न रचनात्मक स्थलाकृतियों के अध्ययन हेतु पृथ्वी के अंतर्जात प्रक्रमों के स्वरूप तथा क्रियाविधि का अध्ययन भी आवश्यक होता है।

(3) तृतीय श्रेणी के उच्चावचन– इसमें बहिर्जात प्रक्रमों (वायुमण्डल से उत्पन्न जैसे– जल, नदी, सागरीय जल, भूमिगत जल, पवन, हिमानी एवं परिहिमानी) द्वारा अपक्षय अपरदन एवं निक्षेपण द्वारा जनित स्थल रूपों की आकारिकी, उत्पत्ति विकास का गहन अध्ययन किया जाता है।

भू–आकृति विज्ञान : विषय वस्तु (क्षेत्र)

भू–आकृति विज्ञान की विषय–क्षेत्र में निम्न शामिल हैं–

1) स्थल रूपों की विशेषताएँ

(1) स्थलरूपों की सामान्य विशिष्टतायें

(2) स्थलरूपों की आकारमितिक विशिष्टतायें

(3) स्थलरूप प्रकारिकी

2) स्थलरूपों का उद्‌भव एवं विकास

(1) स्थलरूपों की उत्पत्ति की प्रक्रिया

(2) स्थलरूपों का विकास एवं विनाश

(3) स्थलरूपों का पुनर्जनन

(4) स्थलरूपों का पुनर्नवीकरण

3) स्थलरूपों के निर्माणक भ्वाकृतिक प्रक्रम

(1) भ्वाकृतिक प्रक्रमों का स्वरूप

- अन्तर्जात भ्वाकृतिक प्रक्रम यथा : वलन, पर्वतन, भ्रंशन, उत्संवलन, अवसंवलन आदि।
- वहिर्जात (अनाच्छादात्मक) भ्वाकृतिक प्रक्रम– अपक्षय, अपरदन

(2) भ्वाकृतिक प्रक्रमों की क्रियाविधि

- अपक्षय की प्रक्रियाये
- यथा : भौतिक, रासायनिक एवं जैविक प्रक्रियाये
- अपरदन की क्रिया
- अवसाद परिवहन की क्रिया
- यथा : कर्षणा, साल्टेशन, निलम्बन, उड़ाव आदि।
- अवसाद निक्षेपण की क्रिया

KEXAMS

(3) मानवय क्रियाकलाप एवं उनका भ्वाकृतिक प्रक्रमो एवं स्थलरूपों पर प्रभाव

4) स्थलरूपो की रचना समग्री

(1) शैलों की प्रकृति (शैलिकी)

- शैल प्रकार

(2) चट्टानों के स्तरों की स्थिति

- वलित संरचना
- भ्रंशित संरचना
- गुम्बदीय संरचना
- एक दिग्नत संरचना

(3) चट्टानों का यान्त्रिक एवं रासायनिक संघटन

- शैल संधियाँ
- चट्टानों की प्रवेश्यता
- चट्टानों की अभेद्यता/भेद्यता
- चट्टानों की कठोरता
- चट्टानों के रासायनिक गुण

5) समय कारक

(1) मेगा मापक– चक्रीय समय

(2) मेसो मापक– प्रवणित समय

(3) माइक्रो मापक– स्थिर दशा समय

6) अध्ययन के उपागम

(1) समय–आधारित स्थलरूप उपागम– चक्रीय उपागम

(2) समय–स्वतंत्र स्थलरूप उपागम – अचक्रीय या गतिक संतुलन उपागम

(3) संरचना– स्थलरूप उपागम

(4) प्रक्रम– स्थलरूप उपागम

भ्वाकृतिक संकल्पनायें

थार्नबरी ने भ्वाकृतिक (भू–आकृति विज्ञान) की निम्न संकल्पनाओं का प्रतिपादन किया है –

1) स्थलरूपों के विकास में भूगार्भिक संरचना एक महत्वपूर्ण नियंत्रक कारक है तथा उसमें प्रतिबिम्बित होती है।

भूगार्भिक संरचना में चट्टनों की प्रकृति, उनकी स्तर व्यवस्था तथा रासायनिक संगठन को शामिल किया जाता है। भूगार्भिक संरचना स्थलरूपों को सर्वाधिक प्रभावित करती है। डेविस महोदय ने संरचना, प्रक्रम एवं अवस्था को स्थलाकृतियों के विकास में महत्वपूर्ण कारक माना।

चट्टानों की प्रकृति भूगार्भिक संरचना का महत्वपूर्ण पहलू है। सभी क्षेत्रों में चट्टानें एक समान नहीं हैं, वे कहीं कठोर हैं तो कहीं मुलायम, लेकिन वे विभिन्न स्थल रूपों का निर्माण करने में सहयोग देती हैं।

पुलरिज तथा मॉरगैन के अनुसार, "चट्टाने चाहे आग्नेय हों या परतदार एक तरफ पृथ्वी के इतिहास की हस्तलिपि तैयार करती हैं तो दूसरी तरफ समकालीन दृश्यावली के लिए आधार प्रस्तुत करती हैं।"

चट्टानों की परते विभिन्न अवधारणाओ (यथा– क्षैतिज, लम्बवत्, वलित, भ्रंशित एवं गुम्बदीय अवस्था) में होती हैं। इसलिए स्थालाकृतियाँ भी भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में होती हैं। चट्टानों की रासायनिक संरचना का भी स्थलाकृतियों पर प्रभाव पड़ता है।

2) भू–आकृतिक प्रक्रमों स्थल रूपों पर अपनी विशेष छाप छोड़ते हैं तथा प्रत्येक भू–आकृतिक प्रक्रम स्वयं के स्थल रूपों का विशिष्ट समुदाय विकसित करता है।

भू–आकृतिक प्रक्रम से तात्पर्य उन सभी भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनों से है जो कि पृथ्वी के धरातलीय स्वरूप को प्रभावित करते हैं। अंतर्जात एवं बहिर्जात संकल्पना का प्रतिपादन हुआ। **गिलबर्ट** ने पहली बार गतिक संतुलन की संकल्पना का प्रतिपदन किया तथा स्थल रूपों के अध्ययन में मात्रात्मक विधि का प्रयोग किया।

विलियम मोरिस डेविस ने सर्वप्रथम स्थल रूपों के निर्माण एवं विकास से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्त (भौगोलिक चक्र) का प्रतिपादन किया। डेविस ने स्थल रूपों के विकास के ऐतिहासिक अनुक्रम की संकल्पना का प्रतिपादन किया जिसके आधार पर आगे चलकर अनाच्छादन कालक्रम की संकल्पना का प्रतिपादन किया गया। डेविस के भौगोलिक चक्र, जिनका प्रतिपादन आर्द्र शीतोष्ण प्रदेशों के स्थल रूपों के विकास की व्याख्या के लिए किया या था, के आधार पर शुष्क अपरदन चक्र, हिमानी अपरदन चक्र, सागरीय अपरदन चक्र, कार्स्ट चक्र, परिहिमानी अपरदन चक्र का प्रतिपदान किया गया।

किसी भी प्रदेश में स्थल रूपों का अध्ययन तीन सारणियों में होता है–

(1) स्थल रूपों का वर्णन,

(2) वर्गीकरण तथा

(3) स्थल रूपों की व्याख्या

अंतर्जात प्रक्रम पृथ्वी के अंदर उत्पन्न होते हैं जिसमें पटल विरुपण तथा आकस्मिक (ज्वालामुखी व भूकम्प) क्रियाओं को शामिल किया जाता है, जबकि बहिर्जात प्रक्रम धरातल पर होता है। अपक्षय, अपरन एवं अनाच्छादन इसके मुख्य अंग हैं। बहिर्जात प्रक्रम में धरातल पर अपरदन एवं निम्नीकरण होता रहता है। इससे धरातलीय असमानताएँ समाप्त होती रहती है। इन्हें अपरदन के कारक भी कहा जाता है। इनमें प्रवाही जल (नदियाँ), पवन, हिमानी, भूमिगत जल आदि महत्वपूर्ण हैं। ये सभी विभिन्न स्थलाकृतियों को निर्मित करते हैं उन्हें प्रभावित करते हैं।

3) वर्तमान में जो भौतिक प्रक्रम तथा नियम कार्यरत हैं, वे ही समस्त भूगार्भिक काल में कार्यरत थे, लेकिन उनकी तीव्रता जितनी आज है उतनी सदैव समान नहीं रही है।

उपर्युक्त संकल्पना को एकरूपतावाद के नाम से भी जाना जाता है जो आधुनिक भू–विज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त है। इस संकल्पना के प्रतिपादक स्कॉटिश भूगर्भवेत्ता **जेम्स हटन (1785)** है। जॉन फ्लेफेयर ने हन के विचारों को वैज्ञानित

स्वरूप प्रदान किया और उन्हें प्रकाशित कराया। हटन के अनुसार वर्तमान भूतकाल की कुंजी है। उनके अनुसार जिस प्रकार आज स्थलाकृतियों का विकास है, वैसा ही भूतकाल में भी हुआ होगा। भूगार्भिक इतिहास के अंतर्गत जलवायु में हुए परिवर्तन स्पष्ट करते हैं कि अपरदन के प्रक्रम ही नहीं बदले अपितु उनकी तीव्रता में भी परिवर्तन हुआ है। अपरदन के सभी कारकों ने वर्तमान की ही भांति भूतकाल में भी कार्य किया। चट्टनी संरचना, जलवायु परिवर्तन, सागर तली में परिवर्तन, स्थलों में उत्थान व अवतलन आदि कारकों के कारण प्रक्रमों की तीव्रता में परिवर्तन हुआ है।

4) भू–आकृतिक प्रक्रमों के विभिन्न गति से क्रियाशील होने के फलस्वरूप भूतल में अधिकांश उच्चावच निर्मित हुए हैं।

चट्टानों की संरचना तथा उनके स्तरण में पर्याप्त भिन्नता पायी जाने के फलस्वरूप समतलीकरण की प्रक्रिया एक समान नहीं होती है। ऐसा माना जाता है कि उच्च भाग कठोर चट्टानों से निर्मित हुए हैं, निम्न भागों में अपेक्षाकृत मुलायम चट्टानें हैं। चट्टानों में संघटन तथा संरचना में भिन्नता का प्रभाव प्रादेशिक स्थलाकृति के अलावा क्षेत्रीय स्थलाकृति पर भी देखा जाता है। तापमान, आर्द्रता, ऊंचाई, भू–आकृतिक स्वरूप, वनस्पति आदि की भिन्नता का प्रभाव प्रक्रमों की गतिशीलता पर पड़ता है। जलवायु का प्रभाव स्पष्ट रूप से सभी स्थानों पर दृष्टिगत होता है। सभी कारक एक साथ मिलकर भू–आकृतिक प्रक्रमों की गति की क्रियाशीलता को प्रभावित करते हैं जिससे विभिन्न प्रकार के उच्चावचों का निर्माण होता है।

5) भू–तल पर जैसे ही विभिन्न अपरदनात्मक कारक कार्यरत होते हैं, स्थलरूपों का एक व्यवस्थित अनुक्रम उत्पन्न होता है।

डेविस महोदय ने अपरदन चक्र की संकलना प्रस्तुत कर यह स्पष्ट किया कि स्थल रूपों के विकास की क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं तथा प्रत्येक अवस्था के विशिष्ट लक्षण होते हैं। उन्होंने बताया कि भू–आकृतिक चक्र की युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था आदि अवस्थाएँ होती हैं। अंत में आकृतिविहीन पेनीप्लेन का निर्माण

होता है। इसकी काफी आलोचना हुई। भू—आकृतिक चक्र की अवस्थाएँ बंधित नहीं होती तथा पेनीप्लेन का बनना चक्र के पूर्ण होने पर निर्भर करता है।

स्पष्ट है कि स्थल रूपों का व्यवस्थित एवं क्रमिक विकास होता है तथा अवस्थाएँ बदलने से स्थल रूप भी बदल जाते हैं। डेविस के भू—आकृतिक चक्र की युवावस्था में भी वी आकार की घाटी, कैनियन, गार्ज, जल प्रपात, क्षिप्रिका, प्रौढ़ावस्था में नदी वेदिकाएं, विसर्प, संरचनात्मक सोपान, वृद्धावस्था में बाढ़ के मैदान, गोखुर झील, प्राकृतिक तटबंध, डेल्टा आदि स्थलाकृतियों का विकास होता है।

6) भू—आकृतियों के विकास में समान्यीकरण की अपेक्षा जटिलताएँ अधिक हैं।

भू—आकृतियों के निर्माण में अनके जटिलताएँ देखी जाती हैं। अर्थात् किसी स्थल खण्ड पर एक ही प्रक्रम सक्रिय नहीं होता है। किसी एक स्थान पर एक समय में एक से अधिक प्रक्रमों के सक्रिय होने से जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। सभी स्थल रूपों का विकास एक ही चक्र में पूरा नहीं होता बल्कि कई चक्रों में पूरा होता है। इस तरह एक से अधिक प्रक्रमों का पाया जाना तथा एक से अधिक चक्रों के कारण ही जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर हारबर्ग ने स्थलाकृतियों को निम्न पाँच भागों में विभाजित किया।

(1) सरल भू—दृश्य— सरल भू—दृश्य वह है जिनका निर्माण एक ही चक्र द्वारा तथा एक ही प्रक्रम द्वारा होता है। इसमें जटिलताएँ नहीं मिलती।

(2) मिश्रित भू—दृश्य— मिश्रित भू—दृश्य वह है जिनका निर्माण एक से अधिक प्रक्रमों द्वारा होता है अतः इनमें जटिलताएँ मिलती हैं।

(3) एक चक्रीय भू—दृश्य— एक चक्रीय भू—दृश्य वह है जिनका निर्माण एक ही अपरदन चक्र द्वारा होता है।

(4) बहुचक्रीय भू—दृश्य— बहुचक्रीय भू—दृश्य वह है जिनक निर्माण एक से अधिक अपरदन चक्रों द्वारा होता है। अधिकांश स्थलाकृतियाँ इसी वर्ग की है।

(5) अनावृत या पुर्नजीवित भू–दृश्य– प्राचल स्थल रूप जो आवरण से ढक जाते हैं किन्तु वर्तमान अपरदन के कारकों से हट जाते हैं, तो वह अनावृत्त या पुर्नजीवित भू–दृश्य कहलाते हैं।

(6) पृथ्वी की स्थलाकृति का बहुत कम भाग टर्शरी युग से प्राचीन है तथा अधिकांश भाग प्लीस्टोसीन युग से अधिक प्राचीन है।

भूपटल की अधिकांश स्थलाकृतियाँ प्लोस्टोसीन युग से प्राचीन नहीं हैं तथा बहुत कम टर्शरी युग से पूर्व की हैं। एश्ले के अनुसार भूपटल की अधिकांश स्थलाकृतियाँ युवावस्था की हैं, अर्थात वे अधिक प्राचीन नहीं हैं, उनके अनुसार विश्व के अधिकांश दृश्य (यथा–पर्वत, घाटियाँ, सामुद्रिक किनारे, झीलें, प्रपात, क्लिफ एवं कैनियन आदि) मायोसिन युग (2.5 करोड़ वर्ष पूर्व) के बाद की है तथा लगभग सभी स्वरूपों का विकास मानव के जन्म से पूर्व (लगभग 5 लाख पूर्व) हो चुका था एवं वर्तमान मयोसीन युग के पूर्व की स्थलाकृतियाँ धरातल पर नाममात्र हैं। एश्ले के अनुसार धरातल पर वर्तमान स्थलाकृतियों का लगभग 99 प्रतिशत भाग टर्शरी युग के बाद का है।

(7) प्लोस्टोसीन युग में हुए भूगार्भिक एवं जलवायु संबंधी परिवर्तनों के दुरूह प्रभाव के मूल्यांकन बिना वर्तमान स्थलाकृतियों की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है।

प्लीस्टोसीन हिमयुग में पृथ्वी की जलवायु बहुत ठण्डी थी। जिसके फलस्वरूप भूपटल पर अधिकांश भाग हिमाच्छादित हो गया था। प्लीस्टोसीन हिम युग के बाद हिमचादर समाप्त हुई लेकिन अनेक स्थानों से यह हिम नहीं हट सकी। हिमाच्छादन के कारण अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इनमें नवीन स्थल रूपों का विकास, पूर्व स्थल रूपों में परिवर्तन, सागरताल में परविर्तन, स्थलीय भागों का उत्थान एवं अवतलन तथा प्रवाल श्रृंखलाओं में परिवर्तन आदि हैं।

हिमावरण का प्रभाव सागर पर बहुत था। हिमयुग की समाप्ति पर सागर तल ऊपर उठा जिससे स्थलाकृतियों के विकास में अनेक परिवर्तन हुए।

KEXAMS

(8) विभिन्न स्थलाकृतिक प्रक्रमों में बदलते हुए महत्व को समझने के लिये विश्व की जलवायु का मूल्यांकन आवश्यक है।

जलवायु भू–आकृतिक प्रक्रमों की सक्रियता को प्रभावित करती है। जलवायु के कारण प्रक्रमों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। इन कारकों में वर्षा की मात्रा, वाष्पीकरण, दैनिक तापान्तर, तुषार क्रिया तथा इसकी गहराई, वायु की गति तथा दिशा आदि है। वनस्पति का आवरण, प्रकार तथा विवरण भू–आकृतिक प्रक्रमों की सक्रियता को प्रभावित करते हैं। **कार्ल सावर** ने बताया है कि स्थल रूपों का संबंध प्रक्रम से न जोड़कर जलवायु प्रदेशों से जोड़ना चाहिए क्योंकि विशेष प्रकार की जलवायु में विशेष प्रकार के स्थलरूप निर्मित होते हैं।

1953 ई. में पेंक ने जलवायु के आधार पर स्थल रूपों को आर्द्र, आर्द्र आर्द्र, शुष्क, अर्द्र शुष्क तथा हिमावीय नामक पाँच भागों में विभक्त किया।

(9) यद्यपि भू–आकृति विज्ञान मुख्यतः वर्तमान भू–आकृतियों से संबंधित है, किंतु ऐतिहासिक विस्तार से इनकी अधिकतम उपयोगिता होती है।

भू–आकृति विज्ञान का संबंध मुख्यतया वर्तमान स्थलाकृति की उत्पत्ति से है, लेकन अधिकांश स्थलाकृतियों का वर्तमान स्वरूप पूर्व भूगर्भिक युगों का परिणाम है। इसलिए भू–आकृतिवेत्ता अपने अध्ययन में ऐतिहासिक उपागम अपनाता है। पहले भू–आकृतिक इतिहास का विश्लेषण किया जाता है तथा प्राचीन अपरदन सतहें ज्ञात की जाती हैं। **रूहे** न पुरा आकृतिक स्थल रूपों को तीन भागों में विभाजित किया– अवशेष स्थल रूप, दबे हुए स्थल रूप एवं अनावृत्त स्थल रूप स्थलाकृतियों की तार्किक व्याख्या एवं विश्लेषण हेतु यह आवश्यक है कि स्थलाकृतियों के ऐतिहासिक विकास का भी अध्ययन किया जाए।

(10) भ्वाकृतिक मापक की संकल्पना

भ्वाकृतिक तंत्र की स्थलाकृतिक विशेषताओं तथा स्थल रूपों के विकास की व्याख्या में भ्वाकृतिक समय एवं स्थानिक मापक महत्वपूर्ण विचर (प्राचल) होते हैं। स्थलाकृतिक समय एवं स्थान का प्रतिफल होती हैं।

किसी भी भ्वाकृतिक क्षेत्र में वर्तमान समय से विगत काल में समकालीन प्रक्रम–रूप (स्थलरूप) के मध्य अन्तर्सम्बन्धों की पुनर्रचना तथा स्थलरूपों के भावी विकास के पूर्वकथन के लिए उस क्षेत्र के किसी निश्चित समय अवधि के अन्तर्गत विभिन्न भ्वाकृतिक प्रक्रमों की क्रियाविधि तथा कार्य दर एवं उनसे उत्पन्न स्थलरूपों के विकास का अध्ययन आवश्यक होता है। भ्वाकृतिक प्रक्रमों तथा स्थलरूपों का अध्ययन विभिन्न स्तरीय स्थानिक एवं कालिक मापकों पर किया जाता है। लघु क्षेत्रों में लघु समय की अवधि के दौरान प्रक्रम की क्रियाविधि एवं कार्य दरों के उपकरणों द्वारा मापन एवं अध्ययन से विभिन्न समय अन्तरालों में उनके कार्य करने की प्रकृति एवं दर तथा उनके स्थलाकृतिक विशेषताओं पर प्रभाव के विषय में महत्वपूर्ण परिणाम निकले हैं।

सामान्य भू–आकृतिक विज्ञान में दो प्रकार के भ्वाकृतिक मापक प्रयोग में लाये जाते हैं– समय मापक एवं स्थानिक मापक। मापक का स्तर अध्ययन के उद्देश्यों पर आधारित होता है।

उदाहरण के लिए यदी एक विस्तृत क्षेत्र की स्थलाकृतियों के विकास की प्रावस्थाओं की दीर्घकालिक समय अवधि के अन्तर्गत पुनर्रचना करनी है तो चक्रीय समय (कई मिलियन वर्ष) वाला डेविच का अपरदन चक्र का मॉडल अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु स्थलरूप समूह (Land Farm assomblage) के किसी खास संगठन का अध्ययन किया जाना है तो लघु समय अवधि वाला कालिक मापक अधिक उपयुक्त होगा।

सारांश

भू–आकृति विज्ञान के अन्तर्गत पृथ्वी के धरातल पर मिलने वाले स्थल रूपों का अध्ययन किया जाता है। इसकी प्रकृति में तीनों श्रेणी के उच्चावचों (प्रथम श्रेणी के उच्चावच, द्वितीय श्रेणी के उच्चावच व तृतीय श्रेणी के उच्चावच) को सम्मिलित किया जाता है।

भू–आकृति विज्ञान की विषय–वस्तु में स्थलरूपों की उत्पत्ति, विकास व विनाश के सभी रूपों को सम्मिलित किया जाता है। भू–आकृतिक संकल्पनाओं में विभिन्न विद्वानों (विशेषकर थार्नबरी) द्वारा दी गई संकल्पनाओं का अध्ययन क्षेत्र की परिस्थितियों व वहाँ पर क्रियाशील प्रक्रमों को आधार मानकर किया गया है। मौलिक संकल्पनाएँ भ्वाकृतिक विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। इसमें विभिन्न युगों में निर्मित स्थलरूपों का अध्ययन होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1 : भू–आकृति विज्ञान का अर्थ बताते हुए इसको परिभाषित कीजिए?

प्रश्न 2 : भू–आकृति विज्ञान की प्रकृति का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 3 : भू–आकृति विज्ञान की विषय वस्तु का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4 : स्थलरूपों के विकास में भूगार्भिक संरचना एक महत्वपूर्ण नियंत्रक कारक है, वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5 : भू–आकृतियों के विकास में सरलता की अपेक्षा जटिलता अधिक मिलती है, उल्लेख कीजिए।

इकाई –2

भू–संचलन

इकाई की रूपरेखा

2.1 भू–संचलन : भूपटल को प्रभावित करने वाले कारक

2.2 अन्तर्जात बल

2.3 वलन

2.4 विभंग

2.5 भ्रंशन एवं भ्रंशों के संघटक

2.6 भ्रंश के प्रकार

2.7 भ्रंश द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

2.8 बहिर्जात बल

2.9 आकस्मिक संचलन : ज्वालामुखी

2.10 भूकम्प

2.11 समस्थिति

2.12 प्लेट विवर्तनिकी

2.13 सारांश

इकाई–2

भू–संचलन (Earth Movement)

पृथ्वी पर जो धरातलीय विषमताएँ दिखाई देती हैं, वे बहुत ही विलक्षण हैं, क्योंकि जहाँ ये सामान्य रूप में स्थिर दिखाई देती हैं, वहीं इनमें थोड़े समय में ही भूकम्प एवं ज्वालामुखी की क्रिया के माध्यम से प्रलय जैसे दृश्य दिखाई देते हैं। ऊँचे गगनचुम्बी पर्वत घिस–घिसकर अरावली एवं अप्लेशियन जैसी निचली पहाड़ियों में बदलते जाते हैं एवं उनके स्थान पर पृथ्वी के नवीन भागों में आल्पस व हिमालय जैसे विशाल पर्वत श्रृंखलाओं की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार धीमी एवं आकस्मिक गतियों के द्वारा नया निर्माण और निर्मित धरातलीय स्वरूपों का अपरदन या कटाव द्वार समतलीकरण होता रहता है।

सृष्टि और विनाश का यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। इनके पीछे जिन शक्तियों का हाथ होता है वे सभी शक्तियाँ भू–संचलन के अन्तर्गत आती हैं।

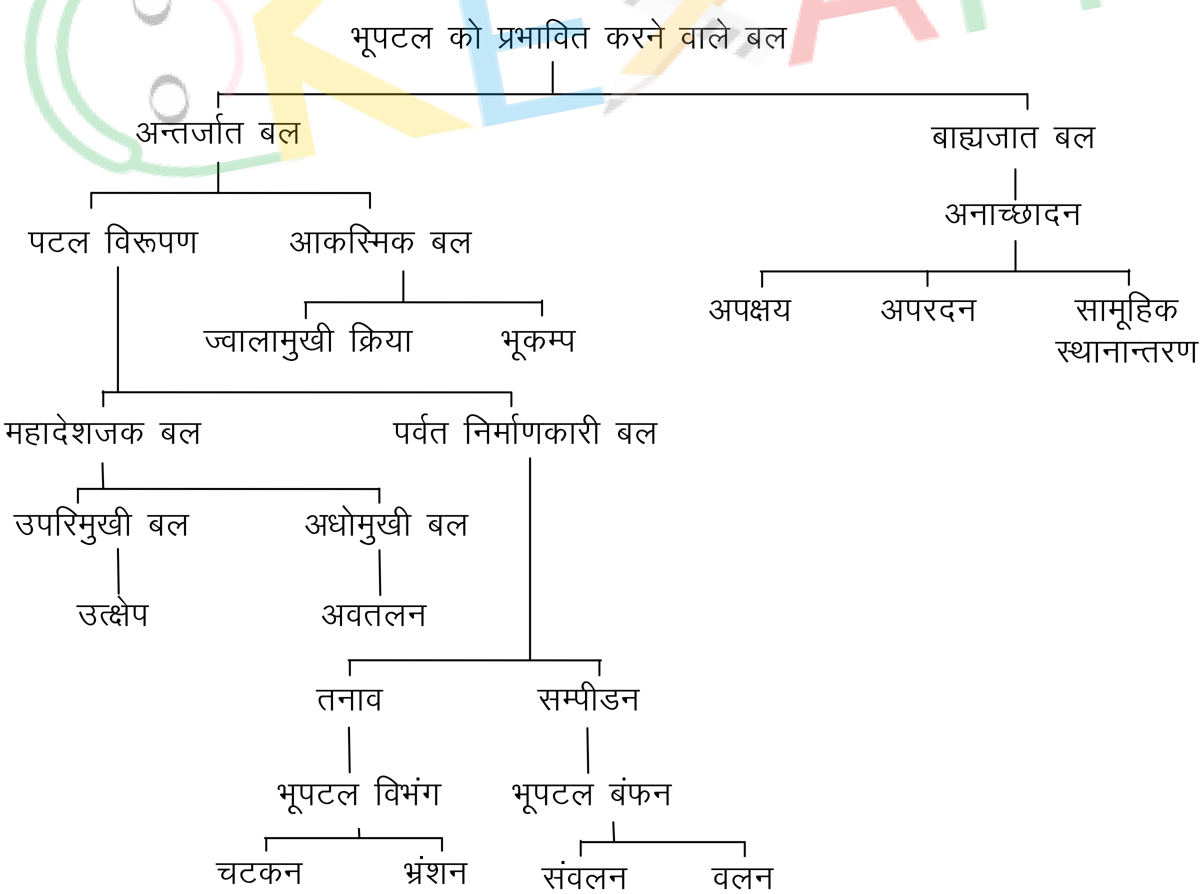

अंतर्जात बल

पृथ्वी के आन्तरकि भाग अथवा भूगर्भ में सक्रिय बलों को अन्तर्जात बल कहते हैं। इन्हें निर्माणकारी शक्तियाँ (Constructional Forces) भी कहा जाता है। ये बल पृथ्वी में गुप्त रूप से कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति व पृथ्वी के आन्तरिक भाग में होने के कारण इनके विषय में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। सम्भवतः इन बलों की उत्पत्ति ऊष्ण पृथ्वी के क्रमशः शीतल होकर संकुचन, परिभ्रमण गति से ह्रास, रेडियोएक्टिव पदार्थों के विघटन से उत्पन्न ताप, संवहनिक धाराओं आदि के कारण होती हैं।

पृथ्वी के भीतर उच्च तापमान ही कदाचित् भूपटल में उत्पन्न परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी है। तापीय अन्तर के कारण शैलों में प्रसार एवं संकुचन होता है, इससे शैलें स्थानान्तरित होती हैं। परिणामतः अनेक स्थलरूप उत्पन्न होते हैं।

पृथ्वी के भीतर उत्पन्न होने वाले बलों के द्वारा धरातल पर दो प्रकार की गतियाँ अथवा संचलन उत्पन्न होते हैं–(1) क्षैतिज संचलन, तथा (2) लम्बवत् संचलन

इन गतियों द्वारा धरातल पर अनेक प्रकार के स्थलरूपों तथा आकृतियों का निर्माण होता है।

तीव्रता के आधार पर अंतर्जात बलों को दो भागों में विभाजित किया जाता हैं–

(1) आकस्मिक संचलन तथा

(2) पटल विरूपणी संचलन

(1) आकस्मिक संचलन

आकस्मिक अंतर्जात बलों द्वारा उत्पन्न संचलन को इसमें रखा जाता है। इससे उत्पन्न घटनाएं आकस्मिक (अचानक) होती है तथा अचानक ही इनसे भूतल पर नीचे तथा ऊपर विनाशकारी परिवर्तन होते हैं। आकस्मिक संचलनों में भूकम्प व ज्वालामुखी प्रमुख हैं। ज्वालामुखी विस्फोट से आकसिमक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं। धरातल पर लावा के प्रवाह के कारण लावा पठार, परावा मैदान, विभिन्न

प्रकार के शंकुओं आदि का निर्माण होता है। भूकम्प के कारण कुछ क्षणों के अंदर ही भूतल पर झील, सागर आदि का निर्माण हो जाता है।

(2) पटल विरूपणी संचलन

पटल विरूपणी संचलन में पृथ्वी के आंतरिक भाग से उत्पन्न होने वाली लम्बवत् तथा क्षैतिज दोनों गतियों को शामिल किया जाता है। यह बल धीमी गति से कार्य करता है तथा इसका प्रभाव हजारों वर्षों बाद (दीर्घकाल) में दृष्टिगोचर होता है तथा वृहदाकार स्थल रूपों का निर्माण होता है।

क्षेत्रीय विस्तार के आधर पर इस संचलन को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है–

(अ) महादेशीय संचलन तथा

(ब) पर्वत निर्माणकारी संचलन

(अ) महादेशीय संचलन

इस संचलन में महाद्वीपों में उत्थान तथा अवतलन तथा निर्गमन व निमज्जन की क्रियाएं होती हैं. ये दोनों क्रियाएं लम्बवत् संचलन की परिचायक हैं। महादेशीय संचलन दो प्रकार के होते हैं –

(1) उपरिमुखी तथा (2) अधोमुखी

(1) उपरिमुखी संचलन– इस संचलन द्वारा स्थल भाग ऊपर की ओर उठता है। भूखण्ड का ऊपर की ओर उठना दोद प्रकाकर से होता है –

अ. उत्थान– महाद्वीप के आन्तरिक या स्तलीय भाग जब अपनी निकटवर्ती सतह से ऊपर उठते है, उसे उत्थान कहते हैं।

ब. उन्मज्जन– महाद्वीप के तटवर्ती भाग जो पहले जलमग्न थे, यदि सागर की सतह से ऊपर उठ जाते हैं तो उसे उन्मज्जन या निर्गमन कहते हैं। प्रायः प्रत्येक महाद्वीप पर उत्थान एवं उन्मज्जन के प्रमाण मिलते हैं।

(2) अधोमुखी संचलन– इस संचलन से भूमि का धँसाव होता है। यह क्रिया दो प्रकार से होती है–

(अ) अवतलन– महाद्वीप के आन्तरिक भाग में स्थानीय अथवा प्रादेशिक स्तर पर भूमि आस–पास की सतह से नीचे धँसती है तब उसे अवतलन कहते हैं।

(ब) निमज्जन– तटवर्ती भाग में भूखण्ड के सागरतल से नीचे डूबने की क्रिया निमज्जन कहलाती है। उपयुक्त दोनों क्रियाओं के प्रमाण व्यापक रूप से पाये जाते हैं।

(ब) पर्वत निर्माणकारी संचलन

पर्वत निर्माणकारी संचलन क्षैतिज अथवा स्पर्शीय शक्ति द्वार उत्पन्न होते हैं। क्षैतिज संचलन से तनाव एवं सम्पीडन उत्पन्न होते हैं। जब किसी भूखण्ड पर क्षैतिज बल दो विपरीत दिशाओं में कार्य करता है तो उसे तनाव कहते हैं। इससे शैल स्तरों में स्थानान्तरण होता है तथा चटकने, दरार एवं भ्रंश पड़ते हैं। किन्तु जब भूखण्ड पर क्षैतिज बल एक ही दिशा में केंद्र की ओर कार्य करता है तथा सम्पीडन उत्पन्न होते है जिससे भूखणड पर वृहत् संचलन एवं वलन पड़ जाते हैं। भूपटल पर उच्चावच के निर्माण में पर्वत निर्माणकारी संचलन अधिक महत्वपूर्ण है। पर्वत निर्माण क्रिया अकस्मात् नही होती। केवल ज्वालामुखी पर्वत आकस्मिक रूप से बनते हैं, अन्यथा पर्वतों का निर्माण एक दीर्घकालिक घटना है। भूगर्भ में धीरे–धीरे आवश्यक बल का संग्रह होता रहता है जिसके द्वारा व्यापक रूप से भ्रंश एवं वलन क्रिया द्वारा पर्वतों एवं अन्य भू–पृष्ठीय संरचनाओं की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया द्वारा आग्नेय शैलों की अपेक्षा अवसादी एवं कायान्तरित शैलें अधिक प्रभावित होती हैं। इस संचलन से वृहत् संचलन, वलन, भ्रंश एवं सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

भूपटलीय षंकन या मुड़ाव–

जब क्षैतिज संचलन आमने–सामने कार्यरत होता है तो धरातलीय चट्टानों में षंकन या मुड़ाव हो जाता है। यह मुड़ाव दो रूपों में होता है–संवलन (Wrap) तथा वलन (Folds), संवलन का प्रभाव दूर तक विस्तृत क्षेत्रों में होता है। इसके अन्तर्गत भूतल या विस्तृत भाग या तो ऊपर उठ जाता है या नीचे धँस जाता है। जब क्षैतिज

संचलन के कारण उत्पन्न संपीड़न के कारण धरातल का बीच का भाग गुम्बद के आकार में ऊपर उठ जाता है तो उसे उत्संवलन (upwraps) कहते हैं और जब धरातलीय भाग नीचे की तरफ मुड़कर धँस जाता है तथा बेसिन का निर्माण होता है तो उसे असंवलन (Down Wraps) कहते हैं। जब धरातलीय चट्टानों में ऊपर उठने अथवा नीचे धँसने की क्रिया हजारों कि.मी. की लम्बाई में होती है तो उसे वृहत संवलन (Broad Wrap) कहते हैं।

पर्वत निर्माणकारी हलचलों का प्रभाव भूपटल पर निम्नलिखित चार प्रकारों से होता है –

(1) वलन (2) भ्रंशन

(3) संवलन (4) संधि

वलन

अंतर्जात शक्तियों द्वारा उत्पन्न क्षैतिज भू–संचलनों के कारण पृथ्वी तल में मोड़ पड़ जाते हैं। सम्पीड़न शक्ति की अधिकता के कारण अपेक्षाकृत मुलायम चट्टानों के समतल संस्तर ऊपर–नीचे लहरनुमा आकृति में मुड़ जाते हैं, जिन्हें वलन (Folds) कहा जाता है।

मिलर के अनुसार, "वलन शैल संस्तर या संरचना में एक मोड़ है।"

वारसेस्टर के अनुसार, "वलन पद का प्रयोग लघु संरचना के लिए किया जाता है जो शैलों के स्तरों में मोड़ से उत्पन्न होता है।"

ये वृहत् संवलनों के लघु रूप हैं। वलन की संरचना को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है –

(1) वलन की भुजा– ये वलन के दोनों ओर के भाग हैं।

(2) वलन का अक्ष– वलन की भुजा के मध्य अपनति के उच्चतम एवं अभिनति के निम्नतम भाग से गुजरने वाली कल्पित रेखा होती है।

(3) अपनति अक्ष एवं अभिनति अक्ष– क्रमशः अपनति व अभिनति के आधार पर स्थित वलन अक्ष होते हैं।

(4) अक्षीय तल– ये वलन के अभिनति व अपनति को मध्य स्थित कल्पित तल होते हैं।

(5) अभिनति– लहरदार मोड़ का गर्त वाला भा अभिनति कहलाता है।

(6) अपनति– मोड़ के ऊर्ध्व भाग को अपनति कहते हैं।

वलन के प्रकार

वलन सम्पीडन की अधिकता तथा चट्टानों की संरचना के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। यदि चट्टान अधिक लचीली होती है तो वलन अधिक होता है। लेकिन इसके विपरीत स्थिति होने पर वलन साधारण होता है। इसी तरह सम्पीडन की अधिकता के कारण भी वलन के पर्याप्त अंतर होते हैं। सामान्य वलन की दोनों भुजाओं के झुकाव बराबर होते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि एक वलन की भुजाओं के झुकाव अलग–अलग होते हैं। इस आधार पर वलन में पार्यप्त विभेद होता है। वलन को निम्न भागों में विभक्त किय ज सकता है–

(1) सममित वलन– साधारण एवं खुले हुए वलन की दोनों भुजाएँ यदि समान झुकी होती हैं तो वह सममित वलन कहलाता है।

(2) असममित वलन– यदि वलन की एक भुजा कम व दूसरी भुजा अधिक झुकी हो तो वह असममित वलन कहलाता है।

(3) एकनति वलन– जब वलन की एक भुजा मंद ढाल एवं दूसर भुजा समकोण बनाते हुए तीव्र ढाल प्रस्तुत करती है तो उसे एकनति वलन कहते हैं।

(4) समनत वलन– यदि वलन की दोनों भुजाएँ समान दिशा को झुकी हुई एवं समान्तर होती हैं तब समनत वलन निर्मित होता है।

(5) परिवलन– वलन क्रिया तीव्र होने पर अधिक संपीडन के कारण वलन की दोनों भुजाएँ अत्यधिक झुक जाती हैं तथा क्षैतिज दिशा में समान्तर क्रम में स्थित होती हैं तब उसे परिवलन कहते हैं।

(6) प्रतिवलन– अत्यधिक सम्पीडन के कारण जब वलन की एक भुजा दूसरे पर उतर जाती है तो उसे प्रतिवलन कहते हैं। इस तरह के वलन की भुजाएँ क्षैतिज अवस्था में नहीं होती हैं।

(7) अवनमन वलन– जब किसी वलन की अक्ष, क्षैतिज तल के समानान्तर न होकर उसके साथ कोण बनाती है तो उसे अवनमन वलन कहते हैं।

(8) पंखा वलन– जब एक वृहत् वलन की वृहद् अपनति तथा अभिनति में कई छोटी–छोटी अपनतियाँ मिलती हैं तो उस वलन को पंखा वलन कहते हैं। इनकी आकृति एक पंखे से मिलती हैं, अतः इन्हें पंखा वलन कहते हैं।

(9) खुला वलन– जब किसी वलन की दो भुजाओं के बीच का कोण 90^0 से अधिक परन्तु 180^0 से कम होता है अथार्त् जब भुजाओं के बीच का कोण अधिक होता है, तो उस वलन को खुला वलन कहते हैं। इनका निर्माण सामान्य सम्पीडन के कारण लहरनुमा वलन पड़ने के फलस्वरूप होता है।

(10) बंद वलन– जब किसी वलन की दो भुजाओं के बीच का कोण न्यून कोण होता है तो उस वलन को बंद वलन कहते हैं। इसका निर्माण अत्यधिक सम्पीडन के कारण होता है।

(11) जटिल पंखाकार मोड़– ये दोहरे पंखाकार मोड़ कहे जा सकते हैं। इनमें मोड़ों का उभार वाला भाग ऊपर वर्णित पंखाकार मोड़ या मेहराबदार मोड़ जैसा होता है। इसे समअपनिति कहते हैं। मोड़ों का विकास जब अभिनति वाले भाग में या उल्टे मेहराबों की भाँति हो एवं उसमें छोटे–छोटे मोड़ (अपनतियाँ व अभिनतियाँ) बने हों तो उसे सम–अपनति कहते हैं। ऐसी रचना अपवाद स्वरूप ही होती है।

(12) ग्रीवाखण्ड या नापे– फ्रांसीसी भाषा में नापे का अर्थ मेजपोश है। जिस प्रकार मेजपोश मेज पर बिछे होने के बाद भी उससे अलग रहता है उसी प्रकार ग्रीवाखण्ड (नापे) की शैलें अपने नीचे की शैल से अलग रहती है। इसका विकास अत्यधिक सम्पीडन के साथ–साथ विशेष भ्रंश की सम्मिलित क्रिया से होता है। परिवलन में मोड़ की भुजाएँ क्षैतिज होकर प्रायः समानान्तर हो जाती हैं। प्रतिवलन में सीमित भ्रंश से मोड़ एक–दूसरे पर छा जाते हैं, किन्तु इसमें मोड़ की चट्टानें विपरीत दिशा में

परिवर्तित मोड़ से भी आगे खिसककर दूसरे खण्ड पर फैल जाती हैं। इस प्रकार यह अवस्था प्रतिवलन की अगली अवस्था है। इनमें भ्रंश के प्रभाव से चट्टानें खिसकने से ग्रीवाखण्ड की चट्टानों की संरचना अपने नीचे की चट्टानों में पूर्णतः भिन्न होती है, क्योंकि इसमें ऊपरी चट्टानें कई किमी दूर तक आगे बढ़ जाती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी कार्डिलेय पर्वत, स्विस, आल्प्स एवं मध्यवर्ती महा हिमालय में ऐसे ग्रीवाखण्ड के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

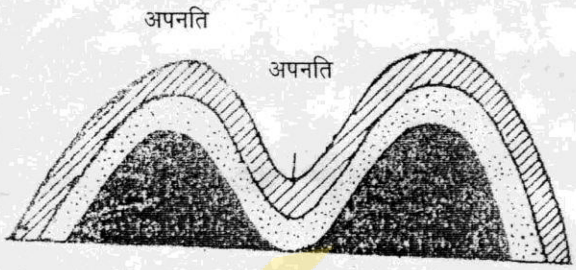

चित्र—वलन या मोड़

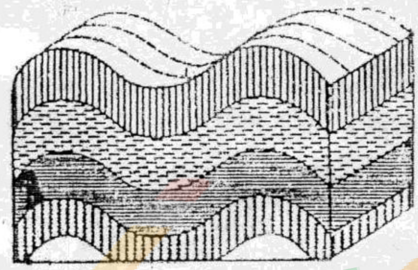
चित्र—सममित या सुडौल मोड़

चित्र—एकनत मोड़

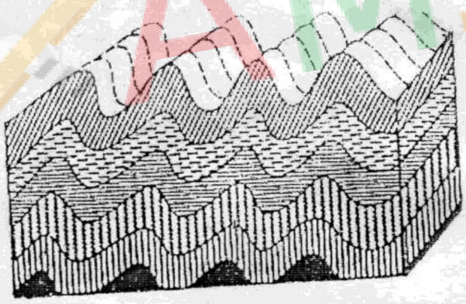
चित्र—असममित या बेडौल मोड़

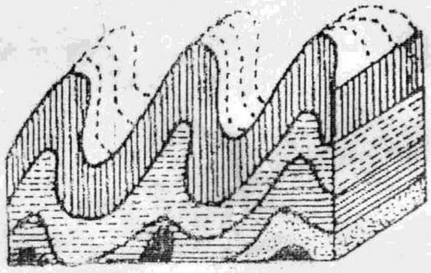
चित्र—एकनत मोड़

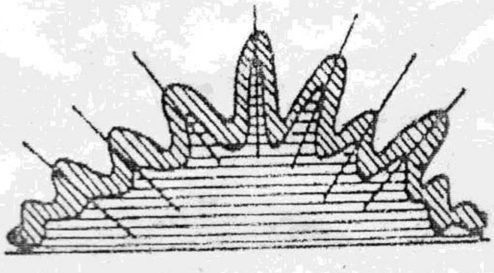
चित्र—पंखाकार मोड़

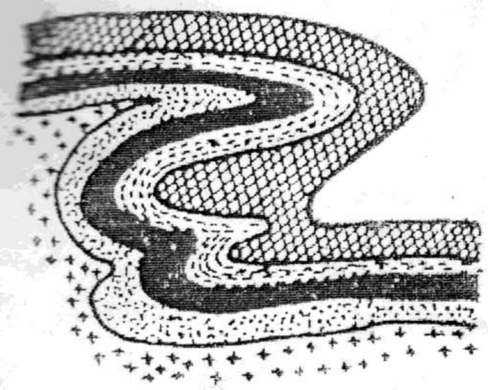

चित्र—परिवलित मोड़

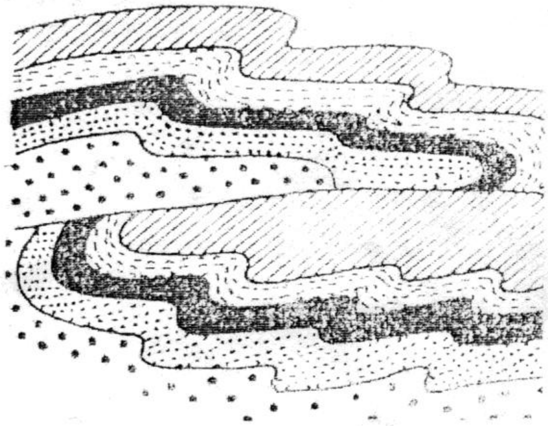

चित्र—प्रतिवलन मोड़

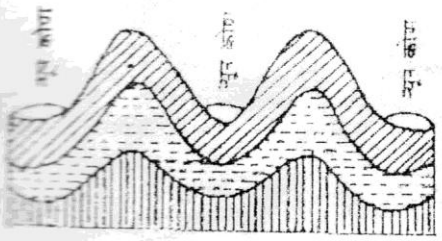

चित्र—बन्द वलन

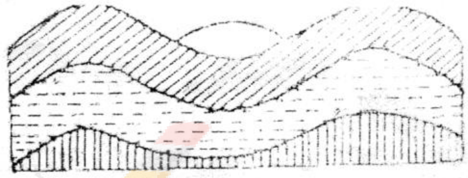

चित्र—खुला वलन

विभंग एवं भ्रंशन

विभंग—

जब पृथ्वी की सतह पर तनाव के कारण क्षैतिज भू—संचलन होता है तो उससे पृथ्वी की सतह चटकने लगती है। इससे बिना स्थान परिवर्तन के ऊपरी तल पर दरारें भी पड़ सकती हैं। इसका प्रभाव केवल ऊपरी सतह तक ही रहता है। जब तनाव अधिक बढ़ने लगता है तो चट्टानें निश्चित तल के सहारे टूटने लगती हैं। यदि ऐसी चट्टानें अपना स्थान नहीं बदलें तो वहाँ संधियाँ पड़ जाती हैं। जिस तल के सहारे ऐसी चट्टाने टूटती हैं तो उसे विभंग या विभंग तल कहते हैं।

चट्टानों में खनिजों की बनावट एवं संरचना की एकरूपता एवं विविधता के आधार पर ही विभंग तल का स्वरूप बदलता है। इसी कारण चूने का पत्थर, ग्रेनाइट, संगमरमर जैसे पत्थरों के विभंग सरल होंगे एवं वहाँ संधियाँ लम्बी व समकोण पर होगी, जबकि बलुआ पत्थर, ग्रेबो, कोग्लोमरेट, पेम्पेटास्ट जैसी चट्टानों की संधियाँ विविध आकृति वाली शंकाभ या अन्य आकार होंगी। इनका विभंग तल

इसी कारण जटिल बना रहेगा। इस तरह संक्षेप में जब तनाव द्वारा भूतल पर चट्टानों पर प्रभाव तो पड़े, किंतु उससे चट्टानों में स्थानान्तरण होने लगे या लगता है तो और विभंग एवं चटक या दरार का प्रभाव गहराई तक होता है तब उस क्रिया को भ्रंश या भ्रंशन (Fault or Faulting) कहते हैं।

भ्रंशन

जब सम्पीडन और तनाव की तीव्रता के फलस्वरूप किसी विभंग तल के सहारे चट्टानों का संचलन बड़े स्तर पर होता है तो उस रचना को भ्रंश कहते हैं। तनाव एवं संकुचन क्रिया के परिणामस्वरूप चट्टानें चटकती हैं और तनाव इतना अधिक तीव्र और लम्बे समय तक रहता है कि चट्टानें टूटकर काफी दूर तक आस–पास के क्षेत्र में खिसक जाती हैं।

वॉरसेस्टर के अनुसार, "पृथ्वी के एक विभंग या विदर को भ्रंश कहते हैं। जिसके सहारे एक भाग दूसरे भाग की अपेक्षा सरक जाता है।"

होम्स के अनुसार, "एक भ्रंश विभंग सतह वह है जिसके सहारे शैलें सापेक्ष रूप से स्थानान्तरित होती हैं।"

भ्रंशों के संघटक

भ्रंशन एक जटिल प्रक्रिया है, जो कभी–कभी सरल दिखाई देती हैं। भ्रंशों के संघटक से समन्धित मत्वपूर्ण तथ्य निम्न हैं –

(1) **विभंग तल या भ्रंश तल–** यह वह सतह है जिसके सहारे संचलन के फलस्वरूप शैलों का स्थानान्तरण होता है। यह तल क्षैतिज, नमित, वक्राकार या अन्य किसी प्रकार का हो सकता है।

(2) **चिकना किनारा–** यह भ्रंश सतह का चिकना या खुरचा हुआ भाग होता है जो संचलन प्रक्रिया के अन्तर्गत उसके एक खण्ड से दूसरे खण्ड के साथ रगड़ द्वारा उत्पन्न होता है।

(3) **भ्रंशनति–** यह वह कोण होता है जो भ्रंश सतह तथा क्षैतिज तल के मध्य निर्मित होता है।

(4) **उत्क्षेपित खण्ड–** भ्रंश सतह की दूसरी ओर के खण्ड की तुलना में ऊँचे उठे भाग को उत्क्षेपित खण्ड या "ऊर्ध्वपात पार्श्व" कहा जाता है।

(5) **अधःक्षेपित खण्ड–** इसे अवपात पार्श्व भी कहते हैं जो भ्रंश सतह की तुलना में निचला खण्ड होता है।

(6) **शीर्ष भित्ति–** भ्रंश की ऊपरी दीवार को शीर्ष भीत्ति कहते हैं।

(7) **पाद भित्ति–** यह भ्रंश की निचली दीवार होती है।

(8) **नतितम्ब–** एक भ्रंश का नतितम्ब उसके क्षैतिज तल के साथ प्रतिच्छेदन द्वारा निर्धारित होता है।

(9) **उन्नमन–** लम्बवत् तल के साथ भ्रंश तल के झुकाव को उन्नमन कहते हैं। यह नमन का पूरक होता है।

(10) **सर्पण–** यह वह दूरी है जो संस्तर के दो क्षेपित खण्डों के मध्य भ्रंश तल पर मिलती है। यह भ्रंश के नतिलम्ब के समानान्तरण कुल स्थानान्तरण को प्रदर्शित करती है।

(11) **नति सर्पण–** नमन की दिशा में सर्पण की मात्रा को नति सर्पण कहा जाता है।

(12) **नतिलम्बी सर्पण–** भ्रंश के नतितम्ब के समानान्तर क्षैतिज स्थानान्तरण की मात्रा को नतितम्बी सर्पण कहते हैं।

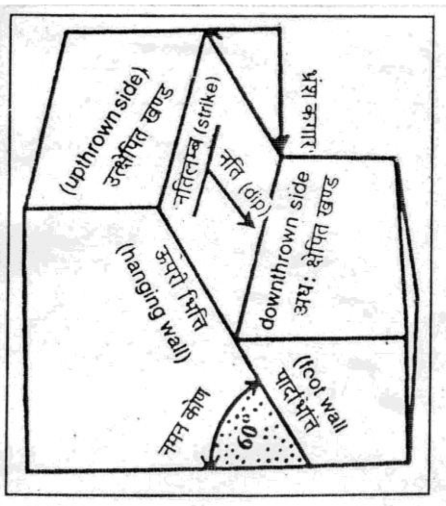

चित्र–भ्रंश के विभिन्न अंग

भ्रंश के प्रकार

भ्रंश निर्माणकारी बलों की दिशा तथा मात्रा में पर्याप्त विषमता तथा विविधता मिलती है, जिसके आधार पर भ्रंशों के निम्नलिखित प्रकार मिलते हैं–

1) **सरल या सामान्य भ्रंश–** चट्टानों में तनाव तथा सम्पीडन द्वारा दरार पड़ने पर जब चट्टानों के दो खण्ड भ्रंश तल के सहारे विपरीत दिशा में खिसकते हैं तो उसे सामान्य भ्रंश अथवा साधारण भ्रंश कहते हैं। भ्रंश तल या तो लम्बवत् होते हैं अथवा ढाल बड़ा तीव्र होता है। इसमें भ्रंश तल नमन या तो करा जैसा या तेज ढालों वाला होता है। ऊपरी भाग को भ्रंश कगार कहते हैं। इसकी ऊंचाई सेकड़ों मीटर तक हो सकती हैं।

2) **विपरीत या व्युत्क्रम भ्रंश–** इसे उत्पक्रम या क्षैतिजिक भ्रंश भी कहते हैं। इसमें सम्पीडनात्मक की क्रिया विशेष महत्वपूर्ण रहती है। इस क्रिया में चट्टान में दरार पडने़ के पश्चात् दोनों खण्ड आमने–सामने खिसकते हुए एक–दूसरे की तरफ बढ़ते हैं। इसमें इस प्रकार चट्टान का एक भाग दूसरे पर छाया हुआ दिखाई देता है। इसमें भ्रंश कगार में लटकती दीवार की भाँति दिखाई देती है। सम्पीडन शक्ति की मुख्य भूमिका होने के कारण इन्हें सम्पीडन भ्रंश भी कहते हैं।

3) **समानान्तर सोपानी भ्रंश–** जब भिंचाव के आलावा तीव्र सम्पीडन की क्रिया बार–बार प्रभावी हो तो सम्पीडन की अधिकता से वहाँ थोड़ी–थोड़ी दूर पर समानान्तर भ्रंश तल दरारें पड़ेंगी। ऐसे स्थान पर सीढ़ीनुमा भ्रंशों का विकास होगा। ऐसे भ्रंश तल के मध्य दूरी कम रहती हैं। पर्वत निर्माण की जटिलता बढ़ने पर ऐसे भ्रंश का विकास हो सकता है।

4) **नमन नति भ्रंश–** जब किसी भ्रंश की क्रिया के समय चट्टानें नमन की दिशा में अर्थात् क्षैतिज तल के सहारे कुछ डिग्री के कोण बनाकर ही खिसकें तो उसे नमन भ्रंश कहते हैं। ऐसे भ्रंश का कायान्तरित या परतदार चट्टानों में अधिक विकसित होते हैं।

5) **नतितम्ब भ्रंश या अनुदैर्ध्य भ्रंश–** इसमें भ्रंश तल के सहारे क्षैतिज दिशा में ही चट्टानें खिसकती या सरकती हैं। अतः इसमें कगार या तो पाए नहीं जाते या नाम

मात्र के मिलते हैं। अतः ऐसे भ्रंशों के विकास में पृथ्वी की सतह की चट्टानें काफी गहराई तक एक–दूसरे में रगड़ खाती हुई किनारों या भ्रंश तल पर खिसकती हैं। अतः यह भ्रंश की एक विशेष स्थिति भी है।

6) तिरछे भ्रंश– ऐसे भ्रंशों का विकास भूकम्प एवं ज्वालामुखी प्रभावित क्षेत्रों में अधिक होता है। इसमें भ्रंश लम्बवत् एवं क्षैतिज दोनों प्रकार से चट्टानों में भ्रंश तल के सहारे खिसकाव हो सकता है। इसमें भ्रंश तल तिरछा या वक्राकार या विषम रचना वाला रहता है। पर्वतीय घाटियों में भी चट्टानें खिसकने से भ्रंश तल इससे अधिक्षोप भ्रंश बन सकते हैं।

7) अधिक्षेप भ्रंश– जब सम्पीडन का दबाव काफी बढ़ जाता है तो चट्टानों का एक खण्ड एक ओर से आगे बढ़कर भ्रंश तल को आगे उछालकर आगे की तरफ चट्टानी भाग पर चढ़ जाता है तो ऐसे भ्रंश का विकास होता है।

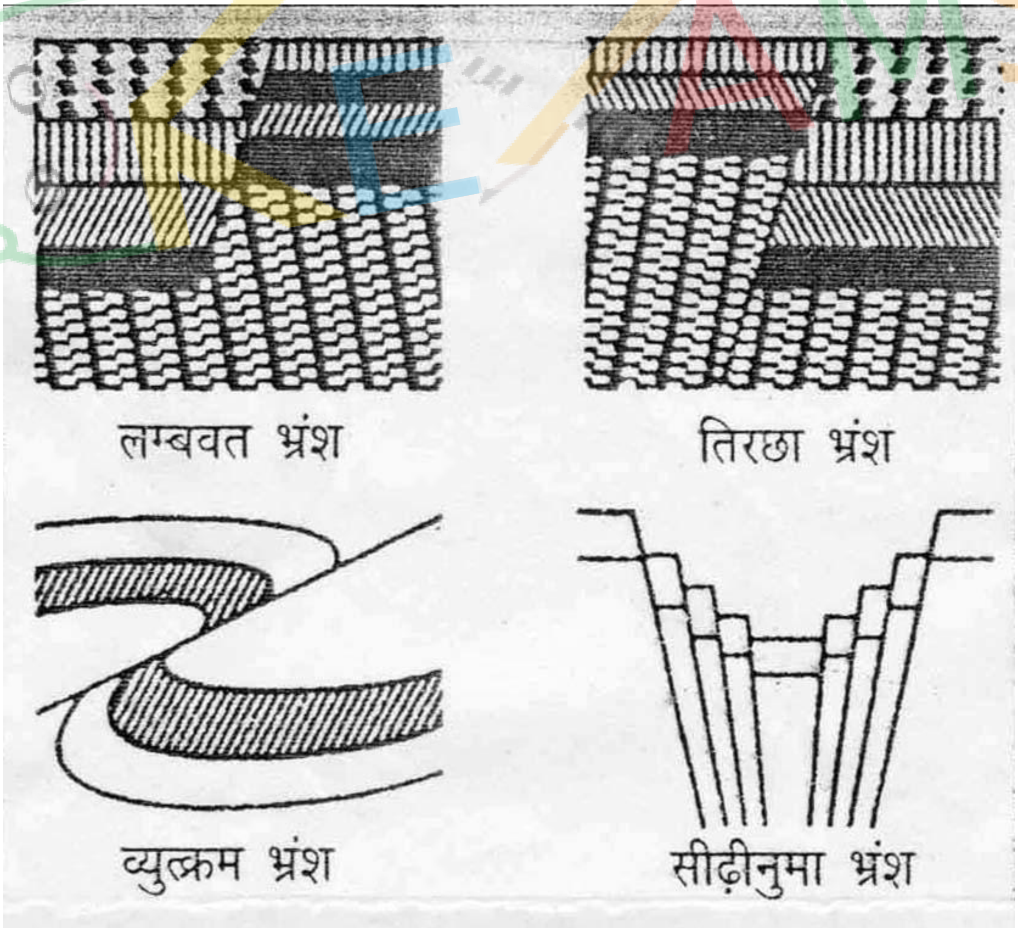

भ्रंश द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

भ्रंश से मुख्यतः ब्लॉक या भ्रंशोत्य पर्वत, दरार घाटी एवं विशेष दशा में भ्रंश कगार का विकास होता है। इस प्रकार निर्मित भू–आकृतियाँ निम्न हैं–

1) ब्लॉक या भ्रंशोत्य पर्वत

जब दो भ्रंशों के बीच का भाग यथावत् रहे एवं किनारे के भाग नीचे धंस जाये, तो ऊंचे उठे भाग को भ्रंशोत्य पर्वत कहते हैं। इनका ढाल एकदम खड़ा और शिखर समतल होता है। जैसे यूरोप में वॉसजेस और ब्लैक फोरेस्ट, एशिया में पाकिस्तान की साल्ट रेंज, संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिण औरगन प्रान्त के स्कीन्स माउण्टेन तथा भारत का सतपुड़ा पर्वत इसके मुख्य उदाहरण हैं।

लेकिन जब दो भ्रंशों के किनारों के भाग यथावत रहे एवं बीच का भाग उठ जाए तो हार्स्ट पर्वत (ये दोनों ब्लॉक या हार्स्ट एक होते हैं दिखने पर इनके निर्माण में अंतर है) या निर्माण होता है।

2) भ्रंश घाटी

भ्रंश या दरार घाटी के निर्माण में दो समानान्तर भ्रंश प्रायः काफी दूरी तक विकसित होते हैं। इनके बीच का भाग नीचे धंस जाता है। इसी नीचे धंसे भाग को भ्रंश घाटी या दरार घाटी कहते हैं। इसे ग्रोबन भी कहा जाता है।

सर्वप्रथम ग्रेगरी नामक भूगोलविद् ने पूर्वी अफ्रीका की महान दरार घाटी को देखने के बाद दरार घाटी या सिल्ट घाटी शब्द का प्रयोग किया था। अधिकतर ये घाटियाँ अधिक लंबी, संकरी एवं र्प्याप्त गहरी होती हैं। विश्व की सबसे लम्बी एवं आश्चर्यजनक दरार घाटी इजराइल व जोर्डन से प्रारम्भ होकर लाल सागर होकर पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे पठारी भाग की पश्चिमी सीमा पर जाम्बिया तक लगभग 5000 कि. मी. लम्बाई में विस्तृत है। इसमें अनेक झीलें स्थित हैं।

जब दो भ्रंश रेखाओं के बीच का स्तम्भ यथा स्थिति में ही रहे परन्तु सम्पीडनात्मक बल के कारण किनारे के दोनों स्तम्भ ऊपर उठ जाते हैं, तब उसे रैम्प घाटी कहते हैं। असम की ब्रह्मपुत्र घाटी इसका उदाहरण है।

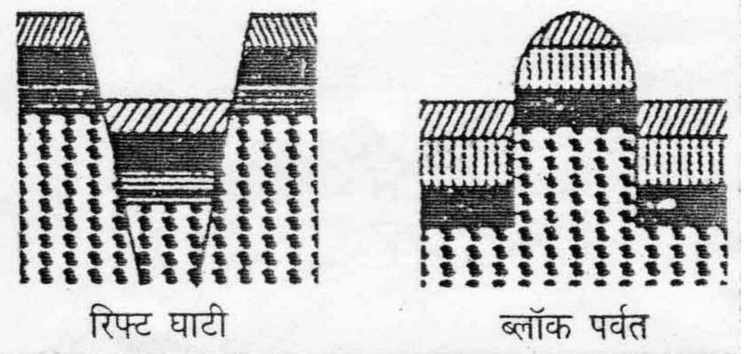

3) भ्रंश कगार

भ्रंश कगारों का निर्माण विशेष दशा में ऊँचे धरातल के एक ओर भ्रंश एवं धंसाव के कारण होता है। भारत के पश्चिमी घाट के किनारे खड़ा ढाल वाला भाग भ्रंश कगार का ही हिस्सा है क्योंकि करोड़ों वर्ष पूर्व दक्षिण का पठार अधिक चौड़ाई में दूर पश्चिम तक विस्तृत था। किन्तु महाद्वीपीय विस्थापन के समय पश्चिमवर्ती भाग एक विशाल दरार एवं भ्रंश ढाल के सहारे टूट गया। इसी कारण पश्चिमी घाट के समुद्र की ओर खड़े ढालों को भ्रंश कगार भी कहते हैं।

भ्रंश घाटियों के विकास/उत्पत्ति संबंधित सिद्धान्त

भ्रंश घाटी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं–

1) तनाव मूलक परिकल्पना

2) सम्पीडनात्मक संबंधी परिकल्पना

1) तनाव मूल परिकल्पना

इस परिकल्पना का विकास मेहराब (Are) के मध्य पत्थर या ईंट के गिर जाने से रिक्त स्थान के रूप में भ्रंश घाटी की उत्पत्ति की परिकल्पना की गयी है। इसी प्रकार भूपटल पर चट्टानों के तनाव के कारण दो भूखण्डों के विपरीत दिशा में खिसक जाने के कारण उनके बीच का भाग नीचे की ओर सरक जाता है, इस नीचे खिसक जाने वाले भाग में रिक्त हुए स्थान को भ्रंश घाटी कहा जाता है। इस परिकल्ना की तीव्र आलोचना हुई और वर्तमान में इस परिकल्पना को अमान्य ठहराया जा चुका है।

2) सम्पीडनात्मक सम्बन्धी परिकल्पना

तनाव के कारण भ्रंश घाटी की उत्पत्ति की परिकल्पना की आलोचनाओं को दूर करने के लिए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इस परिकल्पना के प्रमुख विचारक विलिस, वारेन डी. स्मिथ और बलार्ड हैं। इस परिकल्पना के अनुसार ऊपर उठते हुए किनारों के कारण उत्पन्न दबाव के फलस्वरूप बीच का भाग नीचे की तरफ धंस जाता है, इस बीच के धंसे भाग को भ्रंश ब्लॉक (Rift Block) कहते हैं। ब्लार्ड महोदय ने 1933–34 में अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की, उसके अनुसार भ्रंश घाटी का निर्माण तनाव के कारण नही होता। उनके अनुसार दोनों पार्श्व भागों के सम्पीडन द्वारा ही होता है। उन्होंने सिल्ट घाटक ा निर्माणनेक अवस्थाओं में होना बताया है–

(1) प्रथम अवस्था में पठारी क्षेत्रों की चट्टानों की परतों में क्षैतिजिक संचलन के कारण सम्पीडन होता है।

(2) क्षैतिज बल स्थल भाग के आमने–सामने के दोनों किनारों पर प्रभाव डालते हैं।

(3) स्थल भाग में आकुंचन (Bucking) होना शुरू हो जाता है। यह अकुंचन सम्पीडन के कारण बढ़ता जाता है जिससे चट्टानों में विभ्रंश दरार उत्पन्न हो जाती है। यह दरार भ्रंश घाटी का निर्माण करती है।

संवलन

संवलन में भूपटल का विस्तृत भाग ऊपर नीचे हो जाता है। महाद्वीप निर्माणकारी हलचलों से निर्मित संचलन से भू–पृष्ठ की चट्टानें अधिक प्रभावित होती है तथा इनका प्रभाव क्षेत्र भी बहुत अधिक व्यापक होता है। जबकि पर्वत निर्माणकारी हलचलों से सम्पीडन के द्वारा धरातल पर जो वलन पडते हैं उसमें चट्टानों का बहुत कम भाग प्रभावित होता है। उत्तरी अमेरिका का पश्चिमी मैदान इसी प्रकार के संवलन का द्योतक है।

सन्धियाँ व विभंजन

स्थानीय तनाव एवं संकुचन के कारण कमजोर चट्टानें चटक जाती हैं परंतु वे चटक जाने के बाद भी उनका किसी भाग में विस्थापन नहीं होता है, इस

प्रकार तनाव के द्वारा बनी दरारों को संधि (Joints) कहते हैं, किंतु जब तनाव अधिक शक्तिशाली होता है तो चट्टानों में संधियाँ निर्मित हो जाने पर स्थानांतरण की क्रिया होती है इसे विभंजन (Fractuning) कहते हैं। तनाव से अधिक होने पर विभंग तल (Fault Plane) के सहारे चट्टानों का वृहत् पैमाने पर संचलन होता है।

बहिर्जात बल

अन्तर्जात शक्तियाँ भूतल पर जहाँ वलन, भ्रंश, उत्थान एवं धंसाव आदि घटनाओं के द्वारा असमानताएँ एवं विषमताओं का विकास करती हैं तो उनके साथ–साथ वहीं दूसरी तरफ भूतल पर ही बहिर्जात शक्तियाँ विविध प्रकार के अपरदन एवं जमाव या निक्षेपण द्वारा ऊपर खड़े हुए एवं उबड़–खाबड़ भागों का समतलीकरण करती रहती हैं। इस प्रकार इन दोनों ही शक्तियों का कार्य एक दूसरे से पूर्णतः विपरीत होते हुए भी एक–दूसरे का पूरक एवं समन्वयकारी है।

क्योंकि दोनों ही शक्तियाँ समय–समय पर पृथ्वी की सतह पर होने वाली असंतुलन की स्थिति को भू–संतुलन की आदर्श स्थिति के समीप भूतल या प्रत्येक क्षेत्र विशेष को लाने का प्रयास करती हैं, लेकिन पृथ्वी के कुछ कमजोर तथा असंतुलित भाग सदैव ही भूतल के एक भाग पर परिवर्तन लाते रहते हैं। जहाँ अंतर्जात शक्तियाँ रिनंतर विषमताएं पैदा कर देती हैं। अतः ऐसे भागों में एवं अन्यत्र बहिर्जात शक्तियाँ अपने कारकों या अभिकर्ताओं के माध्यम से ऐसी विषमताओं का पुनः समतलीकरण करती रहती हैं। इनके ऐसे सभी कार्य अनाच्छादन के नाम से पुकारे जाते हैं।

- बहिर्जात शक्तियाँ
  - अनाच्छादन
    - अपक्षय
      - भौतिक अपक्षय
      - रासायनिक अपक्षय
      - जैविक अपक्षय
    - अपरदन
      - नदी
      - पवन
      - हिमानी
      - भूमिगत जल
      - समुद्री जल

ट्रिवार्था ने बहिर्जात बल को श्रेणीकरण की शक्तियाँ कहा है।

मॉकहाउन के अनुसार, "अनाच्छादन के अन्तर्गत उन सभी अभिकर्ताओं का कार्य शामिल है जो कि भूतल के विभिन्न प्रदेशों के पदार्थों का विनाश एवं कटाव द्वारा हानि पहुँचाकर उन्हें वहाँ से बहाकर अन्यत्र जमा करते रहे हैं जिससे कि वहाँ अवसादी या परतदार चट्टानों का निर्माण हो सकें।"

बहिर्जात शक्तियों (अनाच्छादन) को दो भागों में विभाजित किया जाता है–

(1) स्थैतिक शक्तियाँ (2) गतिशील शक्तियाँ

(1) स्थैतिक शक्तियाँ– एक ही स्थान पर रहकर कार्य करती हैं यह क्रिया अपक्षय (Weathering) कलहाती है।

(2) गतिशील शक्तियाँ– ये वे शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा अपक्षय क्रिया द्वारा एकत्रित किया गया अवसाद एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है।

आकस्मिक संचलन : ज्वालामुखी

ज्वालामुखी का तात्पर्य उस छिद्र अथवा दरार से है जिसका सम्बन्ध पृथ्वी के आन्तरिक भाग से होता है। ज्वालामुखी में पिघला हुआ लावा, भाप तथा कठोर चट्टानी टुकड़े धरातल की पहाड़ी को तोड़कर भूपटल पर निकलने लगता है, इस प्रक्रिया को ज्वालामुखी उद्गार अथवा ज्वालामुखी कहते हैं।

वूलरिज एवं मार्गन के अनुसार, "ज्वालामुखी क्रिया के अंतर्गत वह संपूर्ण प्रक्रिया आ जाती है जिनके माध्यम से भूगर्भ भूतल की तरफ आता है अथवा धरातल पर बहा दिया जाता है।"

आर्थर होक्स के अनुसार, "जवालामुखी मुख्यतः एक दरार या छिद्र है जिसका संबंध भूगर्भ से है, इससे लावा का प्रवाह, अत्यंत तप्त जल के फव्वारों या गैसों का भयंकर विस्फोट तथा ज्वालामुखीय राख का उद्गार होता है।"

वारसेस्टर ने ज्वालामुखी क्रिया के लिए Vaulcanism शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार, "ज्वालामुखी वह क्रिया है जिसमें गर्म पदार्थ की धरातल की तरफ या धरातल पर आने की सभी क्रियाएं शामिल की जाती हैं।"

<u>ज्वालामुखी की संरचना</u>

ज्वालामुखी में एक गोल छिद्र अथवा दरार अथवा नली होती है। इसी नली का संबंध भूगर्भ में काफी गहराई तक रहता है। इस नली से गरम लावा, तप्त गैसें, वाष्प, कठोर और ठोस पदार्थ धरातल पर आते हैं। इस नली की मोटाई कुल सौ फीट से अधिक व्यास की नहीं होती है। इसे ज्वालामुखी नली (Volcanic Pipe) कहा जाता है। इस नली के ऊपर का भाग विविर (Crater) कहलाता है। उद्भेदन के समय कभी–कभी ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा ज्वालामुखी के समीप जमा हो जाता है। क्रमशः उद्भेदन और लावा के जमा होते रहने से ऊँचे टीलों का निर्माण होता है जिसे ज्वालामुखी पर्वत कहते हैं।

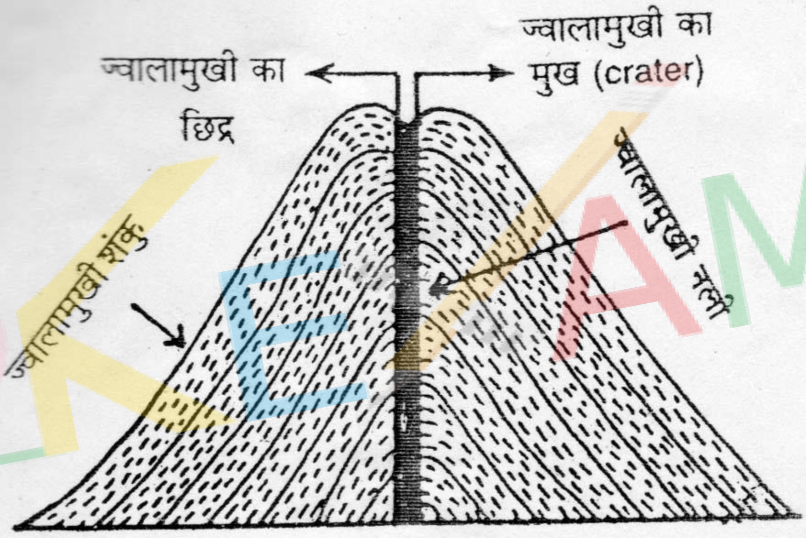

चित्र–ज्वालामुखी शंकु के विभिन्न अंग

ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थ –

ज्वालामुखी उद्गार से निकले पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं–

(1) ठोस पदार्थ (धूल या राख, तोपेसी, सकोरिया, टफ, गमक)

(2) तरल पदार्थ (अम्लीय लावा, पैठिक लावा)

(3) गैसें एवं जलवाष्प (जलवाष्प, कार्बन डाई–आक्साइड, गंधक, आर्गन)

ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थों में लावा का महत्वपूर्ण स्थान है। लावा में सिलिका की मात्रा के आधार पर यह दो प्रकार का होता है।

(1) अम्लीय लावा– इस प्रकार का लावा अपेक्षाकृत गाढ़ा होता है, क्योंकि इसमें सिलिका की मात्रा लगभग 77 प्रतिशत तक पाई जाती है।

(2) बेसिक अथवा पैठिक लावा– इस प्रकार के लावा में सिलिका की मात्रा 44 से 55 प्रतिशत ही होती है। इसकी रचना में अधिकतर वे पदार्थ होते हैं जो धातु वर्ग के तत्वों के ऑक्सीजन के साथ यौगिक बनाते हैं। इस प्रकार का लावा कम तापमान पर ही पिघल जाता है। यह लावा काले रंग का व अधिक दूरी तक प्रवाहित होने वाला होता है।

धरातल पर यह विस्तृत भू–भाग में फैल जाता है व धीरे–धीरे ठण्डा होता है।

ज्वालामुखी उद्गार के कारण

प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता वारसेस्टर के अनुसार ज्वालामुखी उद्गार के निम्न प्रमुख कारण हैं –

1) विश्व के ज्वालामुखी और कमजोर स्थलीय भागों में निकट का संबंध पाया जाता है। भूपटल के उन सभी अस्थिर भागों में जवालामुखी पाये जाते हैं जो भू–संतुलन की दृष्टि से अस्थिर होते हैं, अथवा महाद्वीप और महासागरों के मिलने के स्थलों पर जवालामुखी अधिक पाये जाते हैं।

2) लावा के मुख्य रूप से तीन स्त्रोत पाए जाते हैं –

(1) वेसाल्टिक अधःस्तर

(2) स्थानीय लावा पठार तथा

(3) बैथोलिथ लावा पठार

ज्वालामुखी के उद्गार के समय तरल लावा पदार्थ निकलता है, इससे प्रगट होता है कि लावा के उत्पत्ति स्थल पर ताप की अधिकता पायी जाती है।

ज्वालामुखी का वर्गीकरण

ज्वालामुखी अनेक प्रकार के होते हैं। ज्वालामुखियों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है क्योंकि सभी ज्वालामुखी एक समान नहीं होते। इस कारण ज्वालामुखियों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है–

1) उद्गार की क्रियाशीलता के आधार पर वर्गीकरण–

उद्गार के समय तथा दो प्रकारों के मध्य अवकाश के आधार पर ज्वालामुखी को तीन श्रणियों में विभक्त किया जता है–

(1) सक्रिय जवालामुखी– जिन ज्वालामुखियों से लावा, गैस तथा विखण्डित पदार्थ सदैव निकलता रहता है, उन्हें सक्रिय ज्वालामुखी कहते हैं। वर्तमान में इनकी संख्या 500 है। इटली में एटना तथा स्ट्राम्बोली इसके उदाहरण हैं।

(2) प्रसुप्त ज्वालामुखी– इस प्रकार के ज्वालामुखी दीर्घकाल तक शान्त रहने के बाद अचानक किसी भी समय सक्रिय हो जाते हैं। जब कभी इनमें अनायास विस्फोट होता है तो अपार जन–धन की हानि होती है। इटली का विसुवियस व क्राकाटाओं में इस समय प्रसुप्त ज्वालामुखी के उदाहरण हैं।

(3) शांत ज्वालामुखी– वे ज्वालामुखी जिनसे उद्भेदन की कोई संभावना नहीं होती है वे शांत ज्वालामुखी कहलाते हैं। इनके छिद्र या नली ज्वालामुखी के जमे हुए पदार्थों से भर जाते हैं। ईरान का कोह सुल्तान तथा देमबंद इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

2) उद्गार की तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण–

इस आधार पर ज्वालामुखी को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–

1) केंद्रीय उद्गार वाले जवालामुखी–

केंद्रीय उद्गार प्रायः एक संकरी नली या द्रोणी के सहारे एक छिद्र में होता है, केंद्रीय ज्वालामुखी उद्भेदन शांत प्रकार का भी हो सकता है तथा भयंकर विस्फोट वाला विनाशकारी भी हो सकता है। इनके उद्गार में अंतर निस्पृत पदार्थों की विभिन्नता एवं उद्गार की अवधि के अनुसार इन्हें कई उपविभागों में रखा जा सकता है।

(1) हवाई तुल्य– सामान्य रूप से इन ज्वलामुखियों में उद्भेदन बिना किसी विस्फोट के शांतिपूर्वक होता है। इसका प्रमुख कारण लावा का पतला होना व गैस की तीव्रता में कमी का होना है। हवाई द्वीप समूह में ऐसे ज्वालामुखी हैं जिनमें से बेसाल्ट लावा निकलता है। हवाई द्वीप के मोना ली एवं मोना की ज्वालामुखी इसके उदाहरण हैं।

(2) स्ट्राम्बोलियन तुल्य– स्ट्राम्बोली ज्वालामुखी भूमध्य सागर में सिसली द्वीप के उत्तरी भाग में स्थित है। इसमें सामान्यतः कम गाढ़ा लावा निकलता है। उद्गार के समय कभी–कभी ज्वालामुखी की नली में गैसों का दबाव थोड़ा या मध्यवर्ती अंतराल लंबा होने पर विस्फोट भयंकर आवाज के साथ होता है। इस उद्गार में गैस व धुंआ कम निकलते हैं।

(3) वलकैनो तुल्य– इस प्रकार का ज्वालामुखी प्रायः विस्फोट एवं भयंकर उद्गार के साथ प्रकट होता है। इससे निकलने वाला लावा इतना चिपचिपा व लसदार होता है कि वे उद्गारों के मध्य ज्वालामुखी छिद्र पर जमकर उसे ढक लेता है। अतः दूसरे उद्भेदन के समय नली में जमे लावा को निकलते समय भयंकर विस्फोट होता है। भूमध्य सागर के लिपारी द्वीप के ज्वालामुखी वलकैनो के आधार पर इस प्रकार के ज्वालामुखी को यह नाम दिया गया है।

(4) पीलियन तुल्य– इस प्रकार के ज्वालामुखी सबसे अधिक विनाशकारी होते हैं तथा इनका उद्गार सबसे अधिक विस्फोटक एवं भयंकर होता है। इनसे निकलने वाला लावा सबसे अधिक चिपचिपा तथा लसदार होता है।

(5) विसुवियस तुल्य– ये ज्वालामुखी वलकैनों ज्वालामुखी के समान ही होते हैं लेकिन विसुवियस प्रकार के ज्वालामुखी में गैसों की तीव्रता के परिणामस्वरूप लावा तथा अन्य पादर्थ (गैस, धूल, राख आदि) अकाश में अधिक ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार का उद्भेदन सर्वप्रथम 79 ई. में विसुवियस में हुआ था जिसकी खोज प्लिनी ने की थी।

2) दरारी उद्गार वाले ज्वालामुखी–

इस प्रकार के ज्वालामुखी में लावा का उद्गार किसी एक छिद्र में से न होकर अनेक छिद्रों में से होता है। कभी–कभी यह लावा एक लंबी दरार से होने

लगता है। इस प्रकार के उद्भेदन को विदर अथवा दरारी ज्वालामुखी कहते हैं। इसका उद्भेदन शांतिपूर्ण ढंग से होता है।

3) शांत/विलुप्त उद्गार वाले ज्वालामुखी– इस प्रकार के ज्वालामुखी विस्फोट भीषण नहीं होते। पिघला हुआ लावा आदि निकल कर गुम्बद के रूप में जमा हो जाता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी उद्गारों के उदाहरण आइसलैण्ड, समोआ, स्ट्राम्बोली आदि हैं।

ज्वालामुखी का विश्व वितरण

ज्वालामुखी की स्थितियों में विश्वव्यापक प्रारूप को दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है।

(1) परम्परागत वितरण प्रारूप– जिसका प्रचलन प्लेट विवर्तनिकी (1960) से पहले था तथा ज्वालामुखी को तीन पेटियों या मेखलाओं (परिप्रशांत, मध्य महाद्वीपीय तथा मध्य अटलांटिक) में विभक्त किया गया है।

(2) प्लेट किनारों के परिवेश में ज्वालामुखियों का वितरण– ज्वालामुखी या परंपरागत वितरण प्रणाली तथा विवर्तनिकी के आधार पर अभिनव वितरण प्रणाली को पारस्परिक रूप में विलय करके ज्वालामुखियों का निम्न मेखलाबद्ध वितरण प्रणाली को प्रस्तुत किया जा सकता है।

1) परिप्रशांत महासागरीय मेखला अथवा विनाशात्मक किनारे के ज्वालामुखी– विश्व के ज्वालामुखियों का लगभग दो तिहाई प्रशांत महासागर के दोनों तटीय भागों, द्वीप चापों तथा समुद्री द्वीपों के सहारे पाया जाता है। ज्वालामुखी की इस श्रृंखला को प्रशान्त महासागर का ज्वालावृत्त कहते हैं। यह पेटी अंटार्कटिका के ख्रेबस पर्वत से शुरू होकर दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के सहारे विशेष कर एण्डीज पर्वतमाला का अनुसरण करती हुई उत्तरी अमेरिका के रॉकीज पर्वत के ज्वालामुखियों को शामिल करके पश्चिमी तटीय भागों के सहारे अलास्का तक पहुँचती है। विश्व के अधिकतर ऊंचे ज्वालामुखी पर्वत इसी मेखला में स्थित हैं। इक्वेडोर के ज्लावामुखी विश्व विख्यात हैं। यहाँ 22 प्रमुख ज्वालामुखी पर्वत समूह पाये जाते हैं जिनमें से 15 ज्वालामुखियों की उँचाई 15,000 फीट से अधिक है।

2) मध्य महाद्वीपीय मेखला– यह मेखला यूरेशिया महाद्वीप के मध्यवर्ती भाग में नवीन वलित पर्वतों के सहारे पूर्व से पश्चिम की ओर विस्तृत है। यह पेटी आइसलैण्ड से आरंभ होकर कनारी द्वीप के निकट इस मेखला की दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक शाखा पश्चिमी की ओर पश्चिमी द्वीप तक जाती है। पूर्वी शाखा स्पेन, इटली, सिसली, तुर्की, काकेशिया, आरमीनिया, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत का हिमालय पर्वतीय क्षेत्र, म्यांमार और मलेशिया होकर इण्डोनेशिया तक विस्तृत है। इसके अलाव जोर्डन की भ्रंश घाटी, अफ्रीका की भ्रंश घाटी होती हुई द.अफ्रीका संघ तक चलती गयी है। यूरोप की राइन भ्रंश घाटी में भी कई विलुप्त ज्वालामुखी पाये जाते हैं।

3) अंध महासागरीय मेखला– अंध महासागर में केवल मध्य अमरीका की ज्वालामुखी श्रृंखला लघु एण्टलीस द्वीपों में प्रवेश कर जाती है। यह श्रृंखला अंध महासागर के पूर्वी भाग में स्थित एजोंर्च, केपवर्ड तथा कनारी द्वीपों पर चली गयी है। आईसलैण्ड में अनेक सक्रिय ज्वालामुखी पाये जाते हैं। अंध महासागर की मध्य कटक के सहारे भी कई ज्वालामुखी स्थित हैं।

4) अन्य बिखरे ज्वालामुखी– उपर्युक्त तीन मेखलाओं के अलावा महाद्वीपों, महासागरों और कई द्वीपों में कुछ ज्वालामुखी पाए जाते हैं। मैडागास्कर, कनारी, मारीशस और रियूनियन द्वीपों में ज्वालामुखी पाए जाते हैं। अंटार्कटिका महाद्वीप पर रास सागर के तटवर्ती भाग में इरेबुस और टेबर ज्वालामुखी हैं।

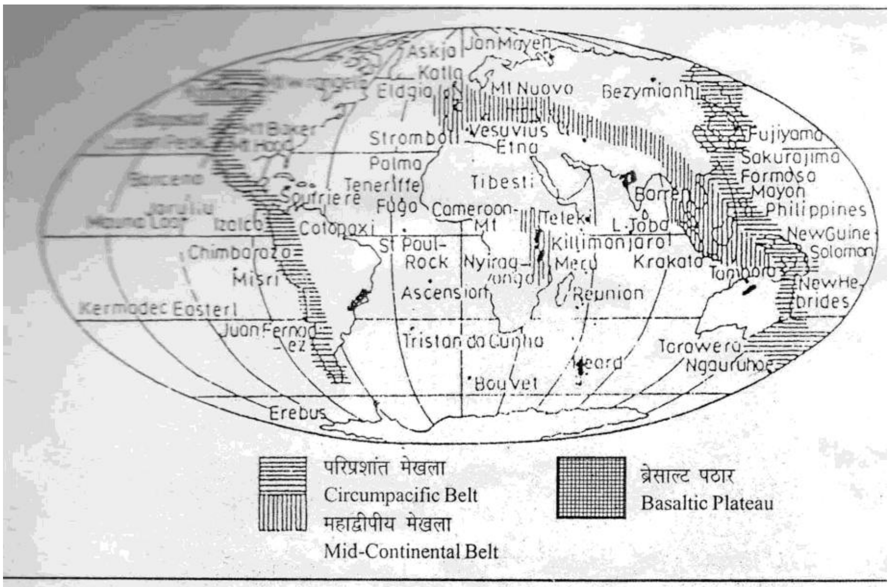

चित्र– ज्वालामुखी की विश्व वितरण

आकस्मिक संचलन : भूकम्प

भूतल पर परिवर्तन करने वाली शक्तियों में भूकम्प एक महत्वपूर्ण शक्ति मानी जाती है। इसके प्रभाव से क्षण मात्र में प्रभावी क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। इसी से वहाँ पर कुछ ही क्षणों में सब कुछ नष्ट होने से अपार जन–धन की हानि हो जाती है। भूकम्प में पृथ्वी कुछ क्षणों के लिए ज्ञात व अज्ञात कारणों के प्रभाव से हिलने या कांपने लगती है।

सेलिसबरी के अनुसार, "भूकम्प धरताल के वे प्रकम्प अथवा कम्पन हैं जो मानव से असंबंधित क्रियाओं के फलस्वरूप होते हैं।"

जे.बी. मेसलवेन के अनुसार, "भूकम्प भूपटल का कम्पना अथवा लहर है जो धरातल के नीचे अथवा ऊपर चट्टानों के लचीलेपन अथवा गुरुत्वाकर्षण की समस्थिति में क्षणिक अव्यवस्था होने पर उत्पन्न होती है।"

भूकम्प का प्रभाव प्रायः दो रूपों में दृष्टित होता है–

1) उत्पत्ति केंद्र से लहरें चारों तरफ को प्रवाहित होती हैं, जिनका प्रवाह क्षैतिज होता है।

2) अधिक तीव्रता होने पर धरातलीय भागों में ऊपर तथा नीचे की तरफ लम्बवत् रूप से धंसाव होने लगता है। भूकम्प का यह रूप अत्यंत विनाशकारी होता है।

भूकम्प का सर्वप्रथम जहाँ आविर्भाव होता है, उसे "भूकम्प मूल" कहते हैं तथा जहाँ पर सर्वप्रथम लहरों का अनुभव होता है, से "भूकम्प केंद्र" कहते हैं।

भूकम्प की उत्पत्ति

अति प्राचीनकाल में भूकंप को पूर्णतः दैवीय घटना माना जाता था। इसे प्रकृति एवं ईश्वर के क्रोध का आधार माना गया। किंतु विज्ञान के विकास के साथ–साथ भू–वैज्ञानिकों ने भूकम्प की उत्पत्ति के संबंध में अनेक तर्कसंगत कारणों की निश्चित आधार पर तथा प्रभाव एवं कारण–प्रभाव के स्वरूप के आधार पर जानकारी प्रस्तुत की है। भूकम्प की उत्पत्ति का प्रमुख कारण निम्न को माना गया है–

1) भूगर्भ में उच्च तापमान पर जलवाष्प एव गैसों की क्रियाशीलता–

पृथ्वी की गहराइयों में जब किसी के कारण के परिणामस्वरूप जल काफी नीचे तक पहुँचने लगता है तो वह तेजी से गर्म होकर वाष्प में बदल जाता है। पूर्व के ज्वालामुखी क्षेत्रों में जब पानी भूगर्भ में प्रवेश करता है तो वह तेजी से एवं बहुत ऊँचे दबाव पर वाष्प में बदलने के साथ–साथ चट्टानों में अनेक प्रकार की गैसें भी वाष्प के साथ एकत्रित हो जाती हैं। ऐसी गैस मिश्रित उच्च दाब वाली वाष्प गतिशील एवं अस्थिर होती है। यह वाष्प व गैस का समूह पृथ्वी की सतह की ओर आने का मार्ग ढूंढ़ता है। कभी–कभी ये गैसें कमजोर पृथ्वी की सतह की पपड़ी से या दरारों से मार्ग ढूंढकर भी पृथ्वी की सतह पर ऐसे मार्गों से तेजी से बाहर आने लगती हैं। इन सभी क्रियाओं के परिणामस्वरूप पृथ्वी कम्पित होने लगती है व भूतल पर भूकम्प आते हैं।

2) ज्वालामुखी क्रिया–

पृथ्वी के असंतुलित भागों में जहाँ समीपवर्ती गहरे सागरों की नली में सीमा की परत सतह के काफी समीप आ गई है वहाँ स्पष्टतः असंतुलन की स्थिति पाई जाती है। इसी कारण ऐसे देशों में ज्वालामुखी क्रिया के साथ अथवा बिना ज्वालामुखी फटे ही भूकम्प आते हैं। ज्वालामुखी विस्फोट जब भी हिसंक होता है तब उसके साथ भूकम्प भी आता है। इसी तरह भूगर्भ से जब गैसें एवं लावा तेजी से पृथ्वी की सतह की तरफ बढ़ता है तो चट्टानों की व्यवस्था बिगड़ने अथवा प्रवाह की तेजी से भी भूकम्प आ जाता है।

3) भ्रंश एवं सम्पीडन की क्रिया–

पृथ्वी की सतह पर अनेक कारणों से भ्रंश एवं सम्पीडन की क्रियाएं होती रहती हैं। ऐसी क्रियाओं के प्रभाव से पृथ्वी की चट्टानें भ्रंश के प्रभाव से टूटती तथा खिसकती हैं अथवा पृथ्वी की सतह पर दरारें और दरार घाटी, ब्लाक पर्वत विकसित होते रहते हैं। ये सभी तनाव सम्बन्धी क्रियाएं हैं। इनके प्रभाव से संबंधित क्षेत्रों में तेजी से चट्टानों के खिसकाव या विचलन से भूकम्प आते हैं। जब ऐसी क्रियाएं पृथ्वी की गहराई में होती हैं तो अधिक विस्तृत क्षेत्र में भूकम्प आते हैं। इस तरह वलनिक

गतियों के प्रभाव से पृथ्वी पर मोड़ या जटिल मोड़ एवं भ्रंश आदि की क्रियाएं एक साथ पर्वत निर्माण के समय होती हैं। इनके प्रभाव के कारण भी पृथ्वी के बड़े भाग में गहरे भूकम्प आते हैं।

4) भू–संतुलन की अव्यवस्था–

यद्यपि पृथ्वी के अधिकांश भागों में भू–संतुलन संबंधी थोड़ी–बहुत अव्यवस्था पाई जाती है, किंतु कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ कि गगनचुम्बी पर्वत एवं निचले भाग या गहरे सागर पास–पास स्थित हैं। ऐसे भागों में संतुलन की अव्यवस्था सर्वाधिक पाई जाती है। इसी कारण वहाँ पुनः व्यवस्था की स्थिति स्थापित करने की दिशा में भूगर्भ में आंतरिक शक्तियों द्वारा एवं भूतल पर समतल स्थापक शक्तियों द्वारा निरंतर प्रभावी क्रियाएं होती रहती हैं। इससे कई बार भू–सतह पर भूकम्प भी आते हैं।

5) प्रत्यास्थ पुनश्चन सिद्धांत–

यह सिद्धान्त **डॉ. रीड** का है। इसके अनुसार प्रत्येक चट्टान में थोड़ी मात्रा में धीमी गति से होने वाली खिंचाव या भिंचाव अथवा दबाव को सहन करने की क्षमता होती है। इसी आधार पर डॉ. रीड ने अपना सिद्धान्त चट्टानों में प्रत्यास्थ पुनश्चलन सिद्धान्त प्रस्तुत किया। डॉ. रीड के अनुसार जब चट्टानों पर क्षमता से अधिक तनाव या दबाव की स्थिति आ जाती है या जब तेजी से ऐसा तनाव या दबाव बढ़ने लगता है तो ऐसी अधिक शक्ति को चट्टाने सहन नहीं कर पाती और टूट जाती हैं। यही नहीं, ऐसी टूटी हुई चट्टानें पुनः खिंचकर अपनी पुरानी स्थिति में भी आने लगती हैं।

6) जलीय भार–

कभी–कभी विषम धरातलीय ऐसे प्रदेश में जहाँ कि कभी भ्रंश एवं तेज सम्पीडन क्रिया का प्रभाव रहा हो वहाँ पर यदि विशाल बांध बनाकर बड़ी झील का निर्माण किया जाए तो ऐसे क्षेत्र में स्थानीय जलीय भार की दिशा में कभी–कभी भूकम्प आते हैं भारत में 1967 का कोयना का भूकम्प इनका प्रमुख उदाहरण है।

भूकम्प के प्रकार

भूकम्पों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जा सकता है–

(क) प्राकृतिक कारणों के अनुसार–

इस आधार पर भूकम्प निम्न प्रकार के होते हैं–

(1) ज्वालामुखी भूकम्प– जब किसी स्थल पर केंद्रीय उद्गार द्वारा ज्वालामुखी विस्फोट होता है तो विस्फोट एवं तेज गति से गैस व लावा के निकलने से वहाँ भूकम्प आते हैं। इस भांति मेग्मा एवं उससे संबंधित गैसे जब तेजी से दौड़ते हुए चट्टानों पर विशेष दबाव व तनाव डालती हैं तो इसके प्रभाव से भूतल पर भूकम्प आ सकते हैं।

2) विवर्तनिक भूकम्प– पृथ्वी की ऊपरी परत व सियास परत में होने वाली भ्रंश व वलनकारी अथवा क्षैतिज एवं लम्बवत् शक्तियों को विवर्तनिक शक्तियाँ कहते हैं। इनके प्रभाव से चट्टानें अपने मूल स्थान से ऊपर नीचे अथवा क्षैतिज स्थिति में ही इधर–उधर होने लगती हैं।

3) पातालीय भूकम्प– जब भूकम्प की उत्पत्ति भूगर्भ में अधिक गहराई पर हो तो उसे पातालीय भूकम्प कहते हैं। सामान्यतः ऐसे भूकम्प का मूल 250 से 680 किमी के मध्य रहता है। ऐसे भूकम्प की उत्पत्ति व एवं विशेष शक्तियों के बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त है।

(ख) गहराई के अनुसार भूकम्प–

इस आधार पर भूकम्प निम्न प्रकार के होते हैं–

1) छिछले भूकम्प– जिन भूकम्पों की उत्पत्ति का आधार या मूल 30 किमी तक की गहराई पर रहता है, उन्हें छिछले भूकम्प कहते हैं। इसमें भूकम्प केंद्र से कुछ किमी की परिधि में अधिक नुकसान होता है।

2) मध्यम गहराई वाले भूकम्प– इन भूकम्पों की उत्पत्ति का मूल 35 से 150 किमी के मध्य रहता है। ऐसे भूकम्प साधारणतः भू–विवर्तनिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। इनमें भूकंप केंद्र से अधिक दूर के क्षेत्रों में कमजोर चट्टानी क्षेत्रों में अधिक नुकसान होता है।

3) गहरे भूकम्प– इन भूकम्पों की उत्पत्ति का मूल 150 से 500 किमी के बीच रहता है। ऐसे भूकम्पों की उत्पत्ति का कारण अभी ज्ञात नहीं है।

भूकम्पों का विश्व वितरण

विश्व के विस्तृत भू–भाग पर भूकम्प आते रहते हैं, विश्व का कोई भी भाग भूकम्प से अछूता नहीं है, यह एक विश्वव्यापी घटना है लेकिन अधिकतर भूकम्प उन क्षेत्रों में आते हैं जो कमजोर हैं, जहाँ दबाव, सम्पीडन तथा तनाव की स्थिति निरंतर बनी रहती है। भूकम्पों का विश्व वितरण निम्न पेटियों में मिलता है–

1) प्रशांत महासागरीय तटीय पेटी– प्रशांत महासागर के दोनों तटीय भागों पर असंख्य भूकम्प अंकित किये जाते हैं। यह विश्व का सबसे बड़ा भूकम्प क्षेत्र है। जहाँ पर समस्त ग्लोब के 63 प्रतिशत भूकम्प आते हैं।

2) मध्य महाद्वीपीय पेटी– यह भूकम्पीय पेटी यूरेशिया के नवीन मोड़दार पर्वतों के सहारे विस्तृत है। इसका प्रारंभ पिरेनीज पर्वस से हिमालय तक है। इस पेटी में अधिकतर भूकम्प भ्रंशमूलक हैं। इस पेटी की एक शाखा मध्य अटलांटिक तट तक फैली है, दूसरी शाखा जोर्डन घाटी होती हुई अफ्रीका के वृहद् सिल्ट घाटी तक है।

3) मध्य अटलांटिक पेटी– अंध मासागर के मध्य भाग में स्थित अंध महासागर के सहारे एक कमजोर क्षेत्र है जो आसइसलैण्ड और स्पिट् वर्जन में बोवेट द्वीप तक विस्तृत है। इस क्षेत्र के मध्य भाग में विषुवत् रेखा के समीप के क्षेत्र में सर्वाधिक भूकम्प आते हैं।

समस्थिति

भूपटल पर ऊँचे पर्वत, विषम पठार, समतल मैदान, निम्न सागरीय बेसिन, आदि विभिन्न भू–आकृतियाँ स्थित हैं। यही नहीं धरातल पर एक ओर जहाँ अन्तर्जात बल स्थल रूपों के निर्माण एवं परिवर्तन में सक्रिय रहते हैं, तो दूसरी ओर बाह्यजात बल धरातल का निरन्तर अपरदन करते हुए पदार्थों को सागरों में निक्षेपित करते रहते हैं। इन परस्पर विरोधी बलों द्वारा भूगर्भ तथा धरातल पर सदैव उथल–पुथल होती रहती है, तथापि यह आश्चर्य का विषय है कि भूपटल पर समस्त आकृतियों के मध्य

सन्तुलन एवं स्थिरता बनी रहती है। अवश्य ही, इस सन्तुलन के पीछे कोई अदृश्य ाक्ति कार्य करती है, जिसे विद्वानों ने "भू–संतुलन" या "समस्थिति" नाम दिया है।

'Isostasy' शब्द लेटिन भाषा के 'Isostatius' शब्द से बना है जिसका अर्थ "समान स्थिति" है।

होम्स के अनुसार, "समस्थिति सन्तुलन की वह दशा है जो भूपटल के ऊपर विस्तृत विभिन्न ऊँचाई वाले विशाल पर्वतमालाओं, पठारों तथा मैदानों के मध्य पाई जाती है।"

स्टीयर्स के मतानुसार, "पृथ्वी के धरातल पर जहाँ कहीं भी सन्तुलन विद्यमान है, समान धरातलीय क्षेत्रों के नीचे पदार्थ की मात्रा समान होगी।"

एयरी का मत–

समस्थिति पर एयरी का यह मानना है कि सियाल सीमा के ऊपर तैर रहा है। उनके अनुसार विभिन्न स्तम्भों का घनत्व बराबर है एवं उनकी गहराई अलग–अलग है। एयरी के अनुसार विभिन्न स्थल खण्डों की तुलना पानी में तैरते हुए लकड़ी के टुकड़ों या बर्फ के टुकड़ों से की जा सकती है। अधिक ऊंचे उठे भाग अधिक गहराई तक प्रविष्ट हैं, जबकि कम ऊँचे भाग अंतःस्तर में कम गहराई तक प्रविष्ट हैं। अतः एयरी का यह मानना है कि पर्वतों की जड़े होती हैं। **होम्स** ने एयरी की जड़ संकल्पना का समर्थन किया।

प्राट का मत

प्राट के अनुसार पहाड़ों की चट्टानों का घनत्व पठारों से कम, पठारों का मैदानों से कम तथा मैदानों की चट्टानों का घनत्व समुद्र की तली की चट्टानों से कम है। अर्थात् ऊंचाई एवं घनत्व में विपरीत संबंध है। जो स्तम्भ जितना नीचा है, उसका घनत्व उतना ही अधिक होगा।

प्राट के अनुसार इस प्रकार विभिन्न स्तम्भों का भार संतुलन रेखा पर बराबर होगा। इस प्रकार प्राट प्लवन के नियम में नहीं, बल्कि क्षतिपूर्ति तल नियम में विश्वास करते हैं। **हैफर्ड** तथा **बोवी** ने प्राट के मत का समर्थन किया है।

प्लेट विवर्तनिकी

प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त 20वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण देन है। महाद्वीप व महासागरों की उत्पत्ति से संबंधित यह नवीनतम सिद्धान्त है।

सर्वप्रथम टूजो विल्सन ने सन् 1965 में प्लेट शब्द का प्रयोग किया, वैसे टूजो विल्सन से पूर्व 1960 में प्रो. हेरी हेस ने इसका प्रतिपादन किया था, लेकिन इसे मान्यता नहीं मिली। टूजो विल्सन के बाद मार्गन, स्केप्टर, वेलेन्टाइन व मूर्स तथा हालस आदि विद्वानों ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

पृथ्वी का ऊपरी भाग भू–पटल तथा ऊपरी मैन्टल से निर्मित है। यह दोनों भाग स्थलमण्डल कहलाता है। इस स्थलमण्डल में कठोर एवं दृढ़ भू–प्लेटों का एक संगठन है। स्थलमण्डल की मोटाई 200 किमी है। स्थलीय दृढ़ भूखण्ड को प्लेट कहते हैं। इन प्लेटों के स्वभाव तथा प्रवाह से संबंधित अध्ययन को प्लेट विर्तनिकी कहते हैं।

अब तक 6 प्रमुख तथा 20 गौण प्लेटों का निर्धारण किया जा चुका है–

प्रमुख प्लेटें –
1. यूरेशियन
2. अफ्रीकन
3. भारतीय
4. अण्टार्कटिका
5. प्रशांत महासागरीय तथा
6. अमेरिकन।

गौण प्लेटें– फिलीपीन, अरेबियन, जुआन–डि–फुका, कैरोसीन, बिस्मार्क, नजका, कोकोस, कैरीबियन।

KEXAMS

प्लेट किनारे

सामान्यतः प्लेट किनारे तीन प्रकार के होते हैं–

1. रचनात्मक प्लेट किनारे– इन किनरों को अपसारी प्लेट सीमा भी कहा जाता है। रचनात्मक प्लेट सीमा अपसारी मण्डल को प्रदर्शित करती है। जहाँ पर लावा का निरन्तर ऊपर की ओर अपवाह होता रहता है तथा नयी सागरीय क्रस्ट का निरन्तर निर्माण होता रहता है।

प्लेटों के अपसारी संचलन से नई सागरीय क्रस्ट का निर्माण, बेसाल्ट मैग्मा के दरारी प्रवाह सम्बन्धी ज्वालामुखी क्रिया, अन्तः सागरीय पर्वत श्रेणियों तथा उभोंरा का निर्माण, कम गहरे भूकम्पों का आना आदि घटनाएं होती हैं।

2) विनाशात्मक प्लेट किनारे– इन्हें अभिसारी प्लेट सीमा भी कहते हैं। जब दो प्लेटें आमने–सामने इस प्रकार गतिशील होती हैं कि वे परस्पर टकराती हैं तथा हल्के पदार्थ से निर्मित प्लेट का अग्र किनारा भारी पदार्थ से निर्मित सघन प्लेट के ऊपर चढ़ जाता है तथा भारी पदार्थ वाला प्लेट किनारा मुड़कर हल्के पदार्थ वाली प्लेट के नीचे मैन्टल में क्षेपित होकर विलीन हो जाता है।

3) संरक्षी प्लेट किनारे– इन्हें रूपान्तर भ्रंश सीमा भी कहते हैं। इनके अन्तर्गत दो प्लेटें अगल–बगल सरकती हैं। इन किनारों के सहारे न तो प्लेट का विनाश होता है और न ही नई क्रस्ट का निर्माण होता है। इनसे रूपान्तर भ्रंश बनते हैं। ज्वालामुखी क्रिया तथा भूकम्पीय घटनाएं भी होती हैं। प्रशान्त तथा अमेरिकन प्लेट के मध्य सान एड्रियास भ्रंश का निर्माण इसी प्रक्रिया द्वारा हुआ है।

जो प्लेट महाद्वीप का निर्माण करती है उसे महाद्वीपीय प्लेट तथा जो महासागरीय बेसिन का निर्माण करती है उसे महासागरीय प्लेट कहा जाता है।

प्लेट विवर्तनिकी एवं पर्वत निर्माण

धरातल पर वलित पर्वतों का निर्माण चक्रीय रूप में हुआ है पर्वत निर्माण क्रिया तथा उसका चक्रीय विकास प्लेट विवर्तन सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। भूप्लेटों के संयोग तीन प्रकार के होते हैं–

1) महाद्वीप–महाद्वीप प्लेटों का अभिसरण– जब दो महाद्वीप प्लेटे परस्पर निकट आते हुए टकराती हैं तो अधिक सघन पदार्थ से निर्मित प्लेट कम घनत्व की प्लेट के नीचे क्षेपित हो जाती है। आलस एवं हिमालय पर्वतों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।

2) महाद्वीप–महासागर प्लेटों का अभिसरण– जब महाद्वीप तथा महासागरीय प्लेटें परस्पर टकराती हैं तो अधिक सघन महासागरीय प्लेट का किनारा कम सघन महाद्वीपीय प्लेट के नीचे क्षेपित हो जाता है। महाद्वीपीय मग्न तट के सहारे निक्षेपित अवसादों में सम्पीडन के कारण वलन पड़ते हैं तथा पर्वतों की रचना होती है। उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर विस्तृत रॉकी एवं खण्डीज पर्वत इसी प्रकार निर्मित है।

3 महासागर–महासागर प्लेटों का अभिसरण– दो महासागरीय प्लेटों के टकराव से एक सागरीय पटल दूसरे सागरीय प्लेट के नीचे क्षेपित हो जाता है। इससे उत्पन्न सम्पीडनात्मक बल से द्वीप तोरण तथा द्वीपीय चाप के पर्वत उत्पन्न होते हैं। जापान के द्विपीय पर्वत, फिलीपाइन्स चाप, मरियाना चाप, हिन्द महासागर के उत्तरी पूर्वी द्वीप तोरण एवं द्वीपीय चाप इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं।

हिमालय का विकास

कार्बोनिफेरस युग में पेंजिया का विभाजन हुआ और गोंडवाना लैण्ड से प्रायद्वीपीय भारत अलग होकर उत्तर पूर्व की ओर विस्थापित हुआ। टेथिस सागर में यूरेशिया से अवसाद जमा होने लगे और प्रायद्वीपीय भाग के टकराने से अवसादों में वलन पड़े और हिमालय पर्वत की उत्पत्ति हुई। हिमालय का निर्माण अवसादी चट्टानों से हुआ है और शिंवालिग इसकी सबसे नवीन शाखा है।

सारांश

भू–संचलन के अन्तर्गत भूपटल को प्रभावित करने वाले आन्तरिक व ब्राह्य बलों को शामिल किया जाता है। आन्तरिक बलों में पटलविरुपण व आकस्मिक बलों को शामिल किया गया है। पटलविरूपण द्वारा महादेशजनक बल व पर्वत निर्माणकारी बलों का निर्माण होता है।

पर्वत निर्माणकारी बलों द्वारा तनाव व सम्पीडन का निर्माण होता है, जिससे वलन व भ्रंशों का निर्माण होता है। आकस्मिक बलों में ज्वालामुखी व भूकम्प को सम्मिलित किया जाता है जो अचानक उत्पन्न होकर तीव्र परिवर्तन लाते हैं।

समस्थिति में धरातल पर मिलने वाले सन्तुलन को शामिल किया जाता है। इसमें प्राट व एयरी के मतों का अध्ययन किया जाता है।

पृथ्वी का ऊपरी भाग कठोर चट्टानों से निर्मित है जो प्लेट कहलाती है। अब तक 6 प्रमुख व 20 गौण प्लेटों का निर्धारण किया जा चुका है। प्लेट विवर्तनिकी के माध्यम से पर्वतों की उत्पत्ति को समझा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. भूपटल की गतियों (संचलनों) का उल्लेख करते हुए उनके भौगोलिक प्रभाव बताइये?

प्रश्न 2. भूपटल पर परिवर्तन लाने वाले अन्तर्जात बलों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. अकास्मिक घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 4. महादेशीय संचलन का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. वलन क्या है? वलन के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 6. भ्रंश क्या है? भ्रंशों के संघटकों का वर्णन करो।

प्रश्न 7. भ्रंशों के प्रकार बताइये।

प्रश्न 8. भ्रंशन द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 9. ज्वालामुखी का अर्थ बताते हुए ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थों को बताइये।

प्रश्न 10. भूकम्प क्या है? भूकम्प की उत्पत्ति के कारण बताइये।

इकाई–3

बाहरी शक्तियाँ

इकाई की रूपरेखा

3.1 बाह्यजात बल

3.2 अनाच्छादन

3.3 अपक्षय अर्थ व प्रकार

3.4 वृहत् संचलन

3.5 मृदा निर्माण

3.6 ढलान विकास

3.7 ढालों के तत्व

3.8 ढालों का वर्गीकरण

3.9 ढाल विकास के मॉडल

3.10 सारांश

KEXAMS

इकाई–3

बाह्यजात बल

भूपटल पर अन्तर्जात बलों एवं प्रक्रमों द्वारा उत्पन्न विषमताओं को दूर करने का प्रयास विभिन्न प्रकार के बाह्यजात बलों द्वारा उत्पन्न समतल स्थापक प्रक्रमों द्वारा होता है। ये प्रक्रम भूपटल के विभिन्न स्थलरूपों को कांट–छांटकर घिसते रहते हैं। अतएव इन्हें, "विनाशात्मक बल" कहा जाता है। किन्तु इन प्रक्रमों द्वारा स्थलरूपों के विनाश या घर्षण की क्रिया के साथ–साथ पदार्थ के निक्षेपण द्वारा भी अनेक प्रकार के स्थलरूप निर्मित होते है। इस प्रकार स्थलरूपों का निरन्तर रूपान्तरण होता रहता है।

मोंकहाउस के मतानुसार, "जैसे ही पृथ्वी के धरातल का कोई भाग दूसरे भाग की तुलना में ऊपर उठता है, इनके लक्षणों का अनाच्छादन के विभिन्न बलों द्वारा रूपन्तरण होने लगता है।"

इस प्रकार धरालत पर अनेक प्रकार की आकृतियों के निर्माण में अनेक प्रकार के साधनों तथा प्रक्रमों का हाथ होता है।

बाह्यजात प्रक्रम धरातल के ऊपर सक्रिय होने वाले बलों या शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते हैं। बाह्यजात बल धरातल पर पाई जाने वाली विषमताओं को दूर करके उसे सपाट बनाने का कार्य करते हैं। इस प्रकार धरातल की कांट–छाँट में संलग्न उन साधनों को विध्वंसकारी बल कहा जाता है।

अनाच्छादन

धरातल की बाह्य शक्तियों के कारण चट्टानों में कांट–छांट, घिसने तथा क्षीण बनाने की क्रिया को अनाच्छादन कहा जाता है। बहिर्जात बल अनाच्छादन की क्रिया द्वारा समतल स्थापना का कार्य करता है।

मोंकाहाउस के अनुसार, "अनाच्छादन में उन सभी साधनों के कार्य सम्मिलित किए जाते हैं जिनके द्वारा पृथ्वी तल के किसी भाग का अत्यधिक विनाश

हो, अपव्ययन एवं हानि होती है, इस प्रकार विनाश से जो पदार्थ दूसरे स्थान पर निक्षेपित होता है उनके द्वारा परतदार चट्टानों का निर्माण होता है।"

अनाच्छादन प्रक्रम में दो प्रकार की प्रक्रियाएं कार्यशील होती हैं।

(1) स्थैतिक एवं (2) गतिशील

(1) स्थैतिक प्रक्रिया– इस प्रक्रिया के अंतर्गत चट्टाने टूटकर अपने स्थान पर पड़ी रहती हैं।

(2) गतिशील प्रक्रिया– इस प्रक्रिया में स्थैतिक प्रक्रिया द्वारा चट्टानों के टूटे हुए पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जाते हैं। इन्हें अलग–अलग अपक्षय एवं अपरदन के रूप में जाना जाता है।

अनाच्छादन के अंतर्गत अपक्षय और अपरदन दोनों क्रियाओं को शामिल किया जाता है। अतः दोनों ही शक्तियों के सामूहिक प्रभाव को ही अनाच्छादन या श्रेणीकरण कहा जाता है।

अपक्षय

अपक्षय से तात्पर्य भू–पटल की चट्टानों के क्षरण होने से है। अपक्षय में चट्टानों के अपने स्थान पर टूटने–फूटने की क्रिया तथा उसमें उस चट्टान विशेष या स्थान विशेष के अनावरण की क्रिया को शामिल किया जात है। इसमें चट्टानों के चूर्ण परिवहन को शामिल नहीं किया जाता है। अपरदन की क्रिया के अंतर्गत टूटे हुए चट्टानों के टुकड़ों के परिवहन तथा टुकड़ों द्वारा आपस में सन्निघर्षण (रगड़) एवं उनके द्वारा कलव की क्रिया को शामिल किया जाता है।

हिण्डस महोदय के अनुसार, "अपक्षय यांत्रिक या रासायनिक अपघटन की वह क्रिया है जो चट्टानों में भौतिक स्वरूप को समाप्त करती रहती है।"

स्पार्क्फ के अनुसार, "पृथ्वी की सतह पर प्राकृतिक कारणों द्वारा चट्टानों के अपने ही स्थान पर यांत्रिक विधि द्वारा टूटने अथवा रासायनिक वियोजन की क्रिया को अपक्षय कहा जाता है।"

KEAMS

अपक्षय के प्रकार

चट्टानों में विघटन तथा वियोजन मुख्य रूप से क्रमशः यांत्रिक या भौतिक रासायनिक परिवर्तनों द्वारा होता है। जीवों तथा वनस्पतियों द्वारा भी अपक्षय होता है तथा इनके कार्य भी यान्त्रिक तथा रासायनिक दो रूपों में सम्पन्न होते हैं। इस आधार पर अपक्षय में भाग लेने वाले कारकों को निम्न रूप में विभाजति कर सकते हैं।

1. यांत्रिक कारक – (1) जल

(2) सूर्य ताप

(3) तुषार

(4) वायु तथा

(5) दाब

2. रासायनिक कारक – (1) आक्सीजन

(2) कार्बन डाई ऑक्साइड

(3) हाइड्रोजन

3. प्राणिवर्गीय कारक– (1) वनस्पतियाँ

(2) जीव जन्तु

(3) मानव

उपर्युक्त कारकों के आधार पर अपक्षय का निम्न रूप में विभाजन किया जा सकता है –

1) भौतिक या यांत्रिक अपक्षय

(1) ताप के कारण बड़े–बड़े टुकड़ों का विघटन

(2) ताप के कारण छोटे–छोटे कणों में विघटन

(3) तुषार के कारण बड़े–बड़े टुकड़ों में विघटन

(4) ताप तथा वायु के कारण अपदलन

(5) दाब मुक्ति के कारण चट्टान का टूटना

2) रासायनिक कारक

(1) आक्सीकरण या आक्सीजनीकरण

(2) कार्बोनेटीकरण या कार्बोनेशन

(3) सिलिका का पृथ्क्कीकरण कार्बोनेशन

(4) जलयोजन या हाइड्रोजन

3) प्राणिकवर्गीय कारक

(1) वनस्पतिक अपक्षय

(2) जैविक अपक्षय

(3) मानव द्वारा अपक्षय

वृहत् संचलन

वृहत् संचलन के अन्तर्गत वे सभी संचलन आते हैं, जिनमें शैलों के मलवा की वृहद् का गुरुत्वाकर्षण के सीधे प्रभाव के कारण ढाल के अनुरूप स्थानान्तरण होता है। वृहद् संचलन के लिए अपक्षय अनिवार्य नहीं है, परन्तु यह इसे बढ़ावा देता है। वृहद् संचलन में गुरुत्वाकर्षण शक्ति सहायक होती है तथा कोई भी भू–आकृतिक कारक (प्रवाहित जल, हिमानी, वायु, लहरें एवं धाराएं) वृहद् संचलन की प्रक्रिया में सीधे रूप में सम्मिलित नहीं होते अर्थात् वृहद् संचलन अपरदन के अन्दर नहीं आता है। असम्बद्ध कमजोर पदार्थ, छिछले संस्तर वाली शैले, भ्रंश, तीव्रता से झुके संस्तर, खड़े भृगु या तीव्र ढाल, पर्याप्त या मूसलाधार वर्षा एवं वनस्पति का अभाव वृहत् संचलन में सहायक होते हैं।

वृहत् संचलन तीन प्रकार के होते हैं। यथा –

(1) मंद संचलन– मंद संचलन के प्रकार के रूप में मंद विरुपण है। यह मध्यम तीव्र एवं मृदा से आच्छादित ढाल पर घटित होता है। इसमें पदार्थों का संचलन इतना मंद होता है कि दीर्घकालिक पर्यवेक्षक से ही इसका पता चलता है।

(2) तीव्र संचलन– तीव्र संचलन आर्द्र जलवायु प्रदेशों में निम्न से लेकर तीव्र ढालों पर घटित होते हैं। मृदा प्रवाह, कीचड़ प्रवाह तथा मलवा अवधाव इस संचलन के प्रकार हैं।

(3) भूस्खलन– भूस्खलन अपेक्षाकृत तीव्र एवं अवगम्य संचलन है। इसमें स्वचलित होने वले पदार्थ अपेक्षतया शुष्क होते हैं।

स्थलाकृतियाँ

वृहद् संचलन द्वारा निम्न स्थलाकृतियाँ बनती हैं–

(1) क्षति चिह्न– जब किसी पर्वतीय ढाल पर शैलें टूटकर नीचे की ओर लुढ़कती हुई गिरती हैं तो टूटे हुए स्थान पर एक रिक्त स्थान का निर्माण होता है, जिसे क्षति चिह्न कहते हैं।

(2) वेदिकाएँ– इनका निर्माण पर्वतीय भागों में बहुविध आयतन की प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है। सर्पण या अवपातन की घटनाओं में जैसे ही आधार तल स्खलित होते है तो शीर्ष में पश्चगामी घूर्णन की प्रवृत्ति मिलती है।

(3) कैनियन दीवारों का अपगमन– आग्नेय शैलों के क्षेत्रों में अनेक कैनियन मिलते हैं। इन कैनियनों के मध्य अवशेष धरातलीय भाग होते हैं, जिनके ऊपर प्रतिरोधी बालुका पत्थर तथा नीचे शेल पाई जाती है। अधिकांश सहायक कैनियनों में प्रायः आन्वययिक धाराएँ मिलती हैं, जिनमें अधिकांश शुष्क होती हैं। बीच के भाग अपक्षय द्वारा कमजोर हो जाते हैं, जो जल से संतृप्त होकर बड़े–बड़े खण्डों में टूटकर गिरने लगते हैं।

(4) विसर्पों का चौड़ीकरण– नदी विसर्पों के विस्तारण में अवपातन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। नदी घाटी की दीवारों में कमजोर शैलें अपक्षय के कारण विघटित होती हैं तथा नदी अपने दोनों किनारों का अधोरदन करती हैं, जिसके फलस्वरूप ऊपर का भाग अलम्ब विहीन होकर टूट–टूट कर गिरता रहता है तथा नदी विसर्पों का विस्तार होता रहता है।

मृदा निर्माण

निर्विवादित रूप से मिट्टियों के निर्माण में निम्नलिखित पाँच प्रमुख कारकों का नियंत्रण रहता है–

1. **पैतृक पदार्थ–** इसमें मृदा निर्माणकारी पदार्थ का गठन तथा संरचना के अतिरिक्त खनिजीय तथा रासायनिक संघटन सम्मिलित हैं।
2. **जलवायु–** तापमान तथा वर्षा की मात्रा एवं प्रकृति मुख्य है।
3. **स्थलाकृति–** यह जल के बाह्य तथा आन्तरिक अपवाह को प्रभावित करती है।
4. **मृदा बायोटा–** इसमें वानस्पतिक आवरण तथा मृदा में पाये जाने वाले जीव सम्मिलित हैं।
5. **समय–** समयावधि जिसके दौरान मृदाजनन के प्रक्रम सक्रिय होते हैं।

उपरोक्त कारकों में से तीन– धरातलीय रचना, पैतृक पदार्थ एवं समय भौमिकीय प्रकृति के हैं। जलवायु भी कुछ सीमा तक भौमिकीय वर्ग में आती है क्योंकि जलवायवीय दशाएँ स्थलाकृति से प्रभावित होती है।

KEXAMS

ढलान विकास

ढाल, स्थलस्वरूप के प्रमुख अंग है, जो कि पहाड़ी तथा घाटी के मध्य उपरिमुखी या अधोमुखी झुकाव होते हैं। इनका आकार, उत्तल, अवतल, सरल रेखी, मुक्त पृष्ठ या तीव्र दीवालनुमा हो सकता है। समतल मैदानी भाग को छोड़कर ढाल सर्वत्र दृश्य होते हैं तथा पहाड़ी भागों में इनका विकास सर्वाधिक होता है। ढाल के आधार पर ही किसी क्षेत्र की आकृतिक विशेषताओं का निर्धारण किया जाता है। भौतिक स्थलरूप मुख्य रूप से कई प्रकार के ढालों के समूह मात्र होते हैं। इस कारण से स्थलरूपों के अध्ययन तथा व्याख्या में ढाल एक कुन्जी का कार्य करते हैं।

इतना ही नहीं ढालों के कारण किसी भी स्थान विशेष के स्थलरूपों में ही विविधता का सूत्रपात होता है। स्थलरूपों का निर्माण तथा विकास भी ढाल के आकार तथा उसके विकास की प्रक्रिया पर निर्भर होता है। इन्हीं कारणों से वर्तमान समय में भू–आकृति विज्ञान के क्षेत्र में ढालों के विश्लेषण पर सर्वाधिक बल दिया जा रहा है।

ढालों के तत्व

यदि किसी पहाड़ी ढाल या सागर तटीय ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि शीर्ष से तली तक ढाल में समरूपता नहीं पायी जाती है। कहीं ढाल का आकार उत्तल, कहीं पर तीव्र खड़ा, कहीं पर मन्द ढाल तथा कहीं पर अवतल ढाल दृष्टिगत होता है। ढाल के इन विशिष्ट अंगों को ढाल का तत्व कहते हैं।

एक आदर्श पहाड़ी ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका के ऊपर से नीचे चार प्रमुख तत्व–उत्तलता, मुक्त पृष्ठता, सरल रेखात्मकता तथा अवतलता पाये जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ढाल में ये चारों तत्व उपस्थित हों ही।

(1) उत्तल तत्व– पर्वतीय ढाल के सबसे ऊपर वाले भाग में उत्तल ढाल पाया जाता है, जिस कारण इसे शिखरीय उत्तलता कहा जाता है। यह भी सम्भाव्य है कि समूचा ढाल उत्तल हो परन्तु सामान्य रूप से उसके ऊपरी भाग में ही उत्तलता का होना अधिक स्वाभाविक होता है।

(2) मुक्त पृष्ठ तत्व– मुक्त पृष्ठ दीवाल–सदृश खड़े ढाल वाला होता है जो कि नग्न होता है। वास्तव में इसका ढाल इतना तीव्र होता है कि इस पर किसी भी प्रकार के शैल मलवा का रुकना कठिन होता है। इस ढाल से होकर शैल मलवा लुढ़क कर नीचे चला जाता है। इस आधार पर मुक्त पृष्ठ ढाल को निस्त्रावण ढाल कहते हैं।

(3) सरलरेखी तत्व– मुक्त पृष्ठ तथा अवतल ढाल के मध्य एक सीधी रेखा वाला ढाल होता है, जिसे सरल रेखी ढाल कहा जाता है। प्रारम्भ में इसका विस्तार सर्वाधिक होता है। समरूपता के कारण इसे सम ढाल या स्थिर ढाल कहते हैं। इस ढाल पर शैल मलवा का जमाव आसानी से हो जाता है। अतः इसे मलवा ढाल भी कहते हैं।

(4) अवतल ढाल– किसी भी आदर्श ढाल परिच्छेदिका के सबसे निचले भाग में अवतल तत्व मिलता है, जो कि पहाड़ी का सबसे निचला हिस्सा होता है तथा शनैः शनैः घाटी की तली के रूप में विलीन हो जाता है। जैसे–जैसे इसका विस्तार होता जाता है, ढाल कम हो जाता है, जिस कारण इसे क्षीयमाण ढाल कहते हैं। इसे घाटी तलागार ढाल या अधः घुलन ढाल भी कहते हैं। इस ढाल का आविर्भाव प्रायः

अनाच्छादन द्वारा होता है तथा ढाल या तो नग्न शैल वाला होता है या उस पर मलवा का एक आवरण होता है।

ढालों का वर्गीकरण

ढालों के वर्गीकरण में पर्याप्त मतान्तर है। इसका प्रमुख कारण ढालों के तत्व तथा उनके रूपों में भ्रम का होना ही है। ढालों का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति के आधार पर अधिक वैज्ञानिक होगा। इस तरह के वर्गीकरण को जननिक वर्गीकरण कहते हैं। ढालों का वर्गीकरण परिमाणात्मक भी हो सकता है। इसके लिए क्षेत्र में ढालों का मापन तथा उससे प्राप्त आँकड़ों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

(अ) जननिक वर्गीकरण

उत्पत्ति के आधार पर ढालों को निम्न तीन प्रकारों में विभाजित किया जाता है –

(1) विर्वतनिक ढाल– विवर्तनिक ढाल का निर्माण मुख्य रूप से भूगर्भिक हलचल के करण धरातल में भ्रंशन तथा नमन के कारण होता है। इसमें कगार ढाल अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(2) अपरदनात्मक ढाल– मुख्य रूप से नदियों, हिमनदियों तथा सागरीय तरंगों द्वारा अपरदन के कारण निर्मित ढालों को इस श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

(3) संग्रहीत ढाल– अपरदन के साधनों द्वारा निक्षेपण तथा विभिन्न अवसादों के संचयन के कारण बने ढालों को संचयनात्मक या निक्षेपजनित ढाल कहते हैं। नदियों द्वारा निर्मित जलोढ़ पंख तथा जलोढ़ शंकु, वायु द्वारा निक्षेपित बालुका स्तूप और हिमानी द्वारा निक्षेपित हिमोढ़ कटक के ढाल उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। निर्माण की अवस्था के आधार पर ढालों को निम्न दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है –

(1) प्राथमिक ढाल– इनका निर्माण नदी, हिमनद, हवा, सागरीय तरंगों आदि के द्वारा अपरदन होने से होता है। नदी द्वारा वी (V) आकार की घाटी, गार्ज इत्यादि का निर्माण होता है, जिनके खड़े ढाल होते हैं।

(2) द्वितीयक ढाल– जब प्राथमिक ढालों का निर्माण हो जाता है तो उनके ऊपर अपक्षय के कारण तथा धरातलीय अपरदन के द्वारा गौण अथवा उपढालों का निर्माण होता है।

(ब) ढालों के तत्व के आधार पर वर्गीकरण

ढाल के चारों तत्वों का ढाल की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका में सदैव पाया जाना यदि सैद्धान्तिक रूप में नहीं तो, व्यावहारिक रूप में सम्भव नहीं है। कभी–कभी किसी विकसित पहाड़ी ढाल में ये चारों तत्व मिल जाते हैं परन्तु ऐसा प्रायः ही होता है। चूंकि ढाल के विभिन्न तत्वों का विकास स्थानीय परिस्थितियों (चट्टान की प्रकृति, अपरदन का प्रक्रम, जलवायु आदि) पर आधारित होता है, अतः कभी–कभी एकाध या कई तत्वों का विकास नहीं हो पाता है। इस तरह विशुद्ध ढाल की जगह मिश्रित ढाल ही अधिक मिलते हैं।

मिश्रित ढाल निम्न प्रकार के होते सकते हैं –

(1) उत्तल अवतल ढाल

(2) उत्तल–सरलरेखी अवतल ढाल

(3) मुक्त पृष्ठ–सरलरेखी–अवतल ढाल

(4) उत्तल–सरलरेखी–मुक्त पृष्ठ–सरल रेखी–मुक्त पृष्ठ अंधः अवतल ढाल आदि।

(स) परिमाणात्मक (मात्रात्मक) वर्गीकरण

ढालों के मात्रात्मक वर्गीकरण का मुख्य आधार ढालों का कोण होता है जिसे या तो क्षेत्र में मापन तथा परिकलन द्वारा या भूपत्रकों से परिकलन द्वारा ज्ञात किया जाता है। ढाल कोणों के आधार पर पहाड़ी ढाल को निम्न रूपों में विभाजित किया जाता है।

1) सामान्य वर्गीकरण

(1) चौरस ढाल $0^0 - 1^0$

(2) मन्द ढाल $1^0 - 3^0$

(3) सामान्य मन्द ढाल $3^0 - 8^0$

(4) तीव्र ढलुआ ढाल $8^0 - 15^0$

(5) सामान्य तीव्र $15^0 - 20^0$

(6) अति तीव्र $30^0 - 90^0$

2) यंग का वर्गीकरण

(1) समतल से मन्द ढाल

(अ) समतल $0^0 - 0.5^0$

(ब) प्रायः समतल $0.5^0 - 1^0$

(स) अति मंद $1^0 - 2^0$

(2) मन्द ढाल $2^0 - 5^0$

(3) सामान्य ढाल $5^0 - 10^0$

(4) सामान्य तीव्र $10^0 - 18^0$

(5) तीव्र $18^0 - 30^0$

(6) अति तीव्र $30^0 - 45^0$

(7) कगार से खड़ा ढाल

(अ) कगार $45^0 - 70^0$

(ब) खड़ी दीवाल सदृश $70^0 - 90^0$

ढाल विकास के मॉडल

पहाड़ी ढाल एवं सरिता घाटी पार्श्व ढाल की उत्पत्ति एवं विकास की व्यवस्था तीन प्रकार के मॉडलों से की जा सकती है।

(1) सैद्धान्तिक मॉडल (2) प्रयोग पर आधारित मॉडल तथा

(3) आनुभाविक मॉडल

KEXAMS

ढालों के विकास से संबंधित किसी भी मॉडल में निम्न प्रश्नों के उत्तर की संभावना निहित होनी चाहिए, जैसे–

(1) क्या ढालो में समानांतर निवर्तन होता है तथा ढाल कोण रहते हैं, या (2) समय के साथ ढाल के कोणों में प्रगामी कमी होती जाती है या (3) पहाड़ी ढालों का अधःक्षय होता है या पृष्ठ अपरदन आदि।

ढालों से संबंधित दो प्रमुख अवधारणाओं के आधार पर ढाल विकास से संबंधित विचारों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है–

(1) ढाल पतन संकल्पना तथा (2) ढाल संतुलन संकल्पना।

ढाल विकास से संबंधित मॉडलों (सिद्धान्तों) में प्रमुख हैं–

(1) डेविस का ढाल पतन मॉडल

(2) पेंक का ढाल प्रतिस्थापन मॉडल

(3) ए.उड का ढाल विकास मॉडल

(4) एल.सी. किंग कापहाड़ीढाल च्कर मॉडल

(5) यंग का प्रक्रम अनुक्रिया मॉडल

डेविस का ढाल पतन सिद्धान्त –

डेविस ने ढालों के विकास में चक्रीय व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। अपरदन चक्र की युवावस्था में नदी द्वारा निम्नवर्ती अपरदन तथा अपक्षय के कारण तीव्र उत्तल ढाल का विकास होता है। इस अवस्था में ढाल का निवर्तन कम तथा पतन का अभाव पाया जाता है। प्रौढ़ावस्था में नदी द्वारा पार्श्ववर्ती अपरदन अधिक सक्रिय हो जाता है, लेकिन जलबिमाणकों के शीर्षों का भी अपरदन होता है। इस तरह जल विभाजकों के नाश के कारण ढाल के कोण में कमी होने लगती है तथा निष्कोण चक्र वाली परिच्छेदिका का विकास होने लगता है।

इस अवस्था में ढाल प्रवणित हो जाता है, क्योंकि सर्वत्र ढाल इतना होता है कि अपक्षय से प्राप्त मलवा का परिवहन सुगमता से हो जाता है। जीर्जावस्था में

ढालों का पतन इतना अधिक हो जाता है कि उनक कोण कहीं भी 5^0 से अधिक नहीं रह पाता है। समस्त भाग एक सम्प्राय मैदान में परिवर्तित हो जाता है। जिस पर अवतल ढाल का विकास हो जाता है।

डेविस ने प्रवणित अपशिष्ट चादर ढाल के ऊपर चट्टान चूर्ण का आवरण तथा प्रवणित घाटी पार्श्व की संकल्पना का भी प्रतिपादन है। ढाल परिच्छेदिका से चट्टान चूर्ण के स्थानांतरण के लिए वांछित परिवहन सामर्थ्य तथा परिवहन के कारक के बल की वास्तविक सामर्थ्य में जब संतुलन हो जाता है, तो उस स्थिति में शैल चूर्ण आवरण को प्रवणित अवशिष्ट चादर कहते हैं। अपरदन चक्र की अंतिम अवस्था में संपूर्ण ढाल परिच्छेदिका प्रवणित हो जाती है तथा पहाड़ी शीर्ष के ढाल के आधार तक संपूर्ण मार्ग गतिशील (मंद गति से) शैल चूर्ण आवरण से ढक जाता है तथा पहाड़ी शीर्ष समाप्त हो जाता है। इस प्रकार डेविस द्वारा संकल्पित प्रवणित ढाल की परिच्छेदिका के किसी भी भाग पर वहाँ पर अपक्षय से जितना पदार्थ प्राप्त होता है तथा ऊपरी ढाल से मृदा सर्पण द्वारा जितना प्राप्त होता है उन सभी को नीचे ढाल की तरफ स्थानांतरण हो जाता है। इस तरह प्रवणित ढाल के हर बिंदु पर मलवा आपूर्ति तथा उसके स्थानांतरण में सामंजस्य रहता है।

KEAMS

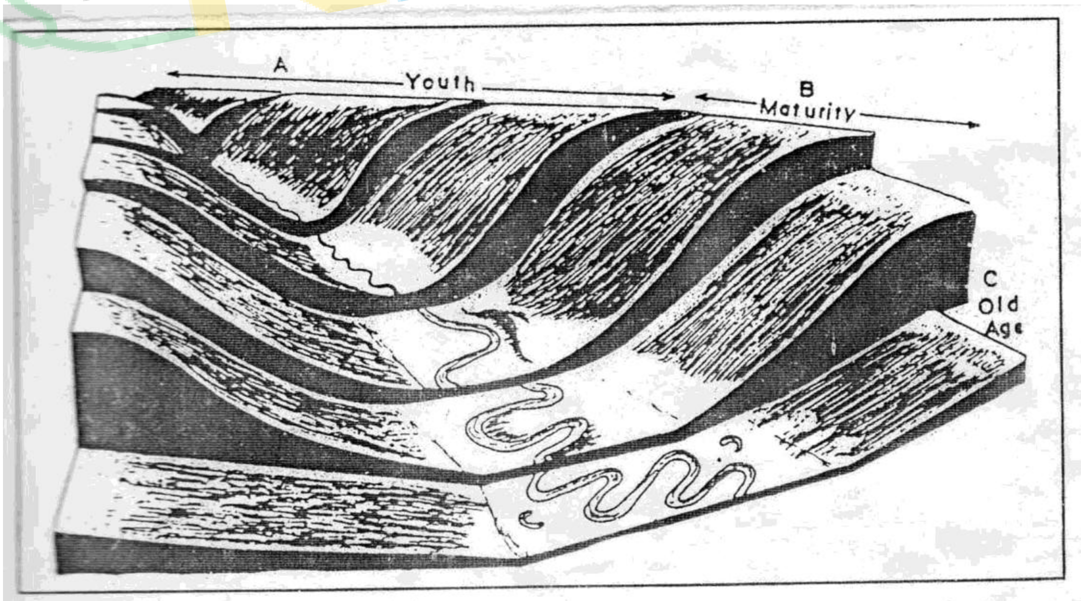

चित्र–डेविस के अनुसार नदी घाटी के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में ढाल का विकास तथा उसके रूप।

प्रवणित ढाल परिच्छेदिका प्राम्भिक अवस्था में तीव्र ढाल वाली होती है तथा उस पर शैल चूर्ण का आकार बड़ा होता है और उनकी तथा शैल चूर्ण आवरण की मोटाई सामान्य होती है। जैसे–जैसे अपरदन चक्र की अवस्था अग्रसर होती है, वैसे–वैसे प्रवणित ढाल परिच्छेदिका मंद ढाल वाली होती जाती है तथा उस पर मलवा आवरण की मोटाई अधिक होती जाती है। इसी तरह घाटी पार्श्व बल की तीव्रता चक्र के अग्रसर होने पर घटती जाती है तथा ढाल शीर्ष उत्तलता एवं निचले भाग पर अवतलता का विस्तार होता है।

इस तरह ढाल कोण में पतन होता है। ज्ञातव्य तथ्य है कि मलवा आवरण निचली शैल के अपक्षय के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है तथा मलवा आवरण की मोटाई निचले ढाल की ओर बढ़ती जाती है एवं ऊपरी भाग में कम होती है, तथा मलवा आवरण की मोटाई निचले ढाल की ओर बढ़ती जाती है एवं ऊपरी भाग में कम होती है, अतः ऊपरी भाग का अपक्षय अधिक होता है।

पेंक की ढाल प्रतिस्थापन संकल्पना–

पेंक ने ढाल से संबंधित विचारों में दुरुह जर्मन भाषा में होने के कारण प्रारंभ में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न की गई थी। कुछ विद्वानों ने पेंक के ढाल विकास के विचारों को समानांतर ढाल निवर्तन सिद्धान्त के रूप में प्रकट किया था। इनके दृष्टिकोण का वास्तविक प्रदर्शन 1952 में हुआ।

पेंक का मुख्य उद्देश्य बहिर्जात प्रक्रमों तथा स्थलरूपों का अंतर्जात प्रक्रमों के साथ संबंध स्थापित करना था। इस प्रकार पेंक के स्थलरूप सिस्टम में दो तथ्य महत्वपूर्ण हैं– (1) प्रक्रमों की कार्यप्रणाली एवं (2) ढाल विकास का निगमनिक मॉडल। पेंक के अनुसार बहिर्जात प्रक्रमों की कार्य प्रणाली ढाल पर रिगोलिथ की विशेषताओं तथा अपक्षय एवं धरातलीय प्रक्रम की क्रियाविधि पर आधारित होती है। धरातलीय प्रक्रमों में सर्वाधिक महत्व द्रव्यमान स्थानांतरण को दिया गया है। पेंक ने प्रक्रमों की क्रिया विधि आकार की विशेषताओं से प्रभावित होती है। तदंतर उनमें (आकार की विशेषताओं में) परिवर्तन भी लाती है।

पेंक ने आकार की सात विशेषताओं तथा प्रक्रमों के कार्य की तीन दरों का उल्लेख किया है।

आकार के गुण–

(1) **न्यूनीकरण की मात्रा** से तात्पर्य है कि प्रस्तर रेगोलिथ किस मात्रा तक टूट कर बारीक पदार्थों में परिवर्तन होता है।

(2) **रिगोलिथ की गतिशीलता–** वह गुण है जिससे रिगोलिथ अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों द्वारा ढाल के सहारे गतिशील होता है। गतिशीलता जितनी अधिक होगी उतना ही रिगोलिथ अनाच्छादनात्मक प्रक्रमों से शीघ्र प्रभावित होगा।

गतिशीलता शैल की विशेषता तथा न्यूनीकरण की मात्रा पर आधारित होती है।

(3) **रिगोलिथ की मोटाई–** से तात्पर्य परिच्छेदिका पर स्थित गतिशील या स्थिर ढीले पदार्थ के आवरण की मोटाई से है। रिगोलिथ की मोटाई न्यूनीकरण की मात्रा से प्रत्यक्ष सीधे रूप में तथा अनाच्छादन की दर से प्रतिलोम रूप में प्रभावित होती है।

(4) **ढाल सतह का अनावरण–** वह मात्रा होती है जिससे यह बोध होता है कि गिरोलिथ के नीचे स्थित शैल न्यूनीकरण के प्रक्रम के लिए अनावृत्त होकर कितनी मात्रा में सुलभ होती है। ढाल सतह का अनावरण रिगोलिथ की मोटाई पर आधारित होता है।

(5) **शैल गुण–** से चट्टानों के उन सभी पहलुओं का बोध होता है जिनका न्यूनीकरण की दर तथा रिगोलिथ की गतिशीलता की दर पर प्रभाव होता है।

(6) **जलवायु–** का संबंध वहाँ तक होता है जहाँ तक वह न्यूनीकरण एवं अनाच्छादन की दर को प्रभावित करती है।

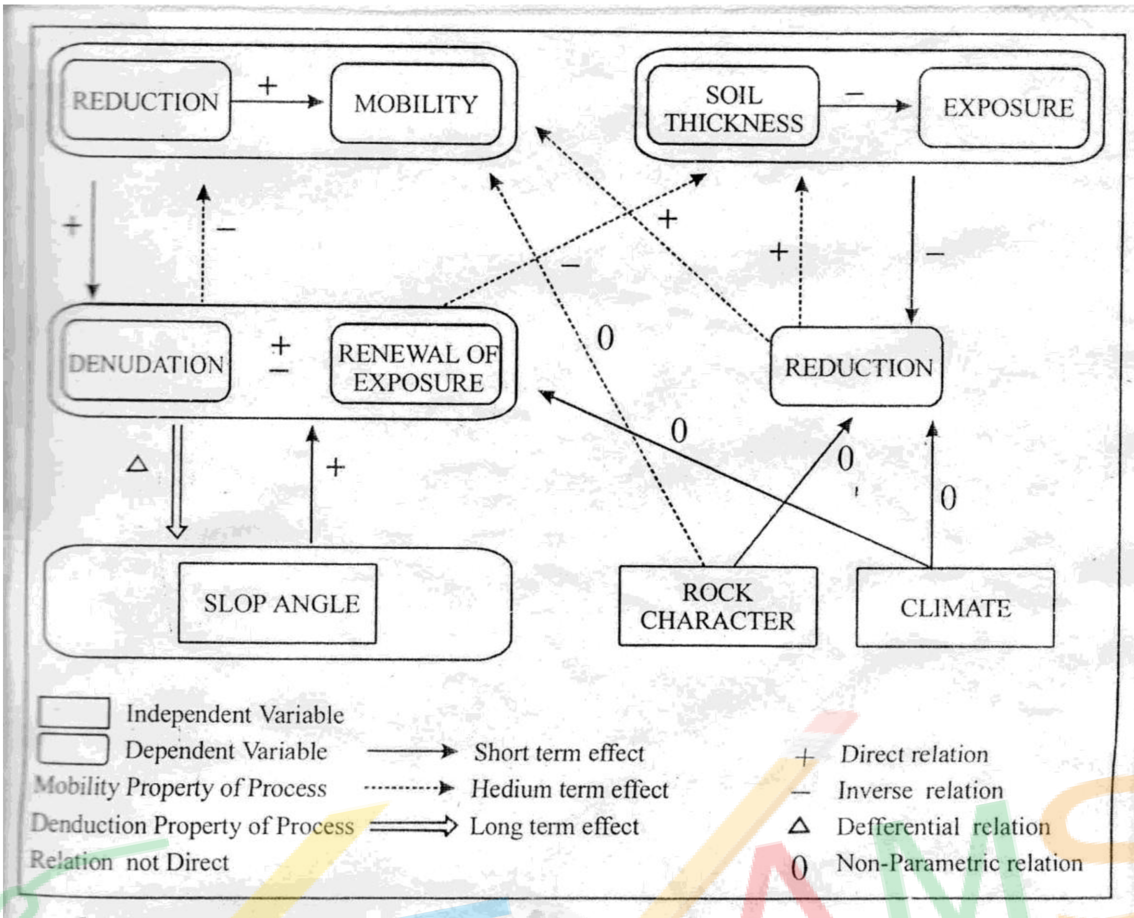

चित्र–पेंक द्वारा वर्णित प्रक्रम तथा रूप के गुणों (Properties) के मध्य पारस्परिक क्रिया (interacction) का यंग (1971) द्वारा प्रक्रम मॉडल (Process-respase Model) के रूप में उल्लेखनीय प्रदर्शन

किंग का पहाड़ी ढाल चक्र सिद्धान्त –

यस.सी. किंग द्वारा प्रतिपाति ढाल विकास के सिद्धान्त उनके द्वारा प्रस्तुत स्थलरूपों के विकास की व्याख्या से संबंधित या यो कहें कि उनके (स्थलरूप विकास) अभिन्न भाग है। किंग का ढाल चक्र तथा स्थल चक्र (क्रमश) 1951, 1953 तथा 1962) से संबंधित है। वास्तव में किंग ने क्षेत्र में ढाल के तत्वों एवं ढाल निर्माणक एवं नियंत्रण कारकों का सर्वेक्षण एवं मापन नहीं किया है।

किंग के अनुसार एक मानक ढाल में ढाल के सभी चारों तरफ (शिखरीय उत्तमता, मुक्त पृष्ठता, सरल रेखात्मकता एवं अधः अवतलता) विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार का आदर्श ढाल–ढाल विकास का स्वाभाविक प्रतिफल होता है। इसका निर्माण एवं विकास या तो प्रवाहित जल द्वारा या द्रव्यमान (मलवा के) के स्थानांतरण द्वारा होता है।

(7) ढाल का कोण– ढाल विकास की प्रारम्भिक अवस्था में स्वतंत्र विचर होता है परन्तु आगे चलकर यह अनच्छादन की दर पर आंशिक रूप में आधारित हो जाता है।

प्रक्रम के गुण–

(1) न्यूनीकरण– का तात्पर्य रिगोलिथ का बारीक कणों में टूटने से होता है। टूटने की यह क्रिया अपक्षय द्वारा प्रभावित होती है। रिगोलिथ के बारीक कणों में टूटने पर शैल गुण, जलवायु तथा अनावरण पर आधारित होती है।

(2) अनाच्छादन– से तात्पर्य ढाल सतह से रिगोलिथ पदार्थों के निष्कासन या अपनयन से है। अनाच्छादन की दर जलवायु, गतिशीलता एवं ढाल के कोण पर आधारित होती है।

(3) अनावरण का नवीकरण– से तात्पर्य रिगोलिथ आवरण के नीचे स्थित शैल सतह के न्यूनीकरण प्रक्रम के लिये अनावरण से है।

ढाल का पूर्ण विकास स्थानीय दशाओं पर निर्भर करता है। इन स्थानीय दशाओं में दृढ़ शैल संस्तर तथा पर्याप्त उच्चावच मुख्य कारक हैं। यदि इन दोनों कारकों में से कोई भी अनुपस्थिति है तो ढाल में कगार तथा मलवा ढाल नहीं बन पाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्तल अवतल पहाड़ी ढाल का विकास होता है।

किंग का पहाड़ी ढाल विकास का सिद्धान्त पेडीप्लेन का निर्माण से संबंधित है। पेडीप्लेन दो प्रक्रियाओं का प्रतिफल होता है कगार निवर्तन तथा पेडीमेंटेशन। ढाल विकास के प्रारंभिक चरण में अपक्षय के कारण कगार के पीछे की तरफ समानांतर निवर्तन होता है। कगार का यह सामान्य निवर्तन संपूर्ण ढाल के विकास को नियंत्रित करता है। किंग ने बताया कि कगार ढाल के नीचे स्थित मलवा ढाल ऊपर की तरफ नहीं बढ़ता है जिससे कगार न तो वह आच्छादित कर पाता है और न ही उसे नष्ट कर पाता है। स्पष्ट है कि मलवा ढाल वाले खण्ड पर मलवा आपूर्ति तथा उसके निष्कासन में पूर्ण समस्थिति होती है। इस तरह पहाड़ी शिखर पर मलवा आपूर्ति एवं मलवा निष्कासन में पूर्ण समस्थिति होती है तथा पहाड़ी शिखर स्थित रहता है। ढाल परिच्छेदिका के ऊपरी भाग में स्थित ढाल तत्व में पीछे की

तरफ निवर्तन के कारण ढाल परिच्छेदिका के निचले भाग पर विकसित अवतल ढाल वाले पेडीमेण्ट की लम्बाई में वृद्धि के कारण ढाल के ऊपरी तत्व विशेषकर मुक्त पृष्ठ (कगार) समाप्त हो जाते हैं। इस तरह पेडीमेण्ट में लगातार (ऊपर की तरफ) वृद्धि होने से उसकी क्रमबद्धता विक्षुब्ध हो जाती है लेकिन वह शीघ्र ही पुनः क्रमबद्ध हो जाती है लेकिन उसके कोण में निरंतर कमी आती जाती है। अंततः पेडीमेण्ट संवर्धन एवं कगार के समाप्त हो जाने पर अवतल ढाल वाली विस्तृत अपरदन सतह का निर्माण होता है जिसे पेडीप्लेन कहते हैं और इसके विकास तथा उसके दौरान ढाल विकास की संपूर्ण प्रक्रिया को क्रमशः पेडीप्लनेशन चक्र एवं पहाड़ी ढाल विकास चक्र कहते हैं।

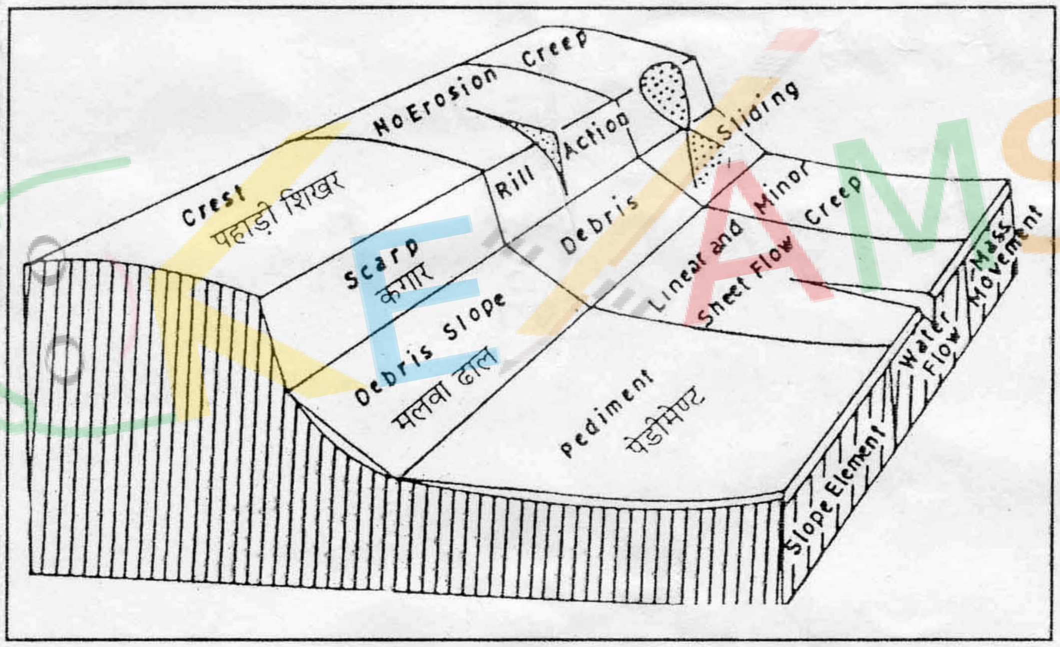

चित्र—एक आदर्श पहाड़ी ढाल के विभिन्न अंग (यल. सी. किंग (1962) के अनुसार।

सारांश

भूपटल को प्रभावित करने वाले बाह्यजात बलों में अनाच्छादन सबसे महत्वपूर्ण हैं। अनाच्छादन के दो प्रक्रम अपक्षय व अपरदन धरातल की शैलों का कटान कर नई स्थलरूपों का निर्माण करते हैं।

अपक्षय के अन्तर्गत चट्टानें अपने ही स्थान पर भौतिक तथा रासायनिक विधियों द्वारा टूट जाती हैं और अपरदन के लिए सामग्री उपलब्ध कराती हैं। जिसके निक्षेप से स्थलरूपों का निर्माण होता है। वृहत् संचलन में ढाल व गुरुत्वाकर्षण सबसे महत्वपूर्ण होता है जिसके द्वारा ढीले पदार्थ ढाल के सहारे नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं। यह भी अपरदन के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराती है।

मृदा निर्माण में पैतृक पदार्थ, जलवायु, स्थलाकृति व समय सबसे महत्वपूर्ण कारक तत्व होते हैं। ढालों का विकास पर्वतीय व पठारी क्षेत्रों पर सबसे ज्यादा होता है। ढालों के चार तत्व (उत्तलता, मुक्त पृष्ठता, सरल रेखात्मकता व अवतलता) मिलते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. अनाच्छादन से क्या तात्पर्य है? अनाच्छादन के साधनों को बताइये।

प्रश्न 2. अपक्षय क्या है? अपक्षय के प्रकार बताइये।

प्रश्न 3. वृहद् संचलन क्या है? इसके प्रकार बताइये।

प्रश्न 4. मृदा निर्माण में सहायक तत्वों का वर्णन करो।

प्रश्न 5. ढालों के तत्वों का वर्णन करो।

प्रश्न 6. ढालों का वर्गीकरण कीजिए।

प्रश्न 7. डेविस का ढाल पतन सिद्धान्त का वर्णन करो।

प्रश्न 8. पेंक की ढाल प्रतिस्थापना सिद्धान्त का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 9. किंग के पहाड़ी ढाल चक्र सिद्धान्त का वर्णन करो।

इकाई–4

भू–आकृतिक प्रक्रियाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.1 अपरदन

4.2 नदी के कार्य : अपरदनएवं निक्षेपण

4.3 नदी अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.4 नदी निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.5 हिमानी के कार्य : अपरदन एवं निक्षेपण

4.6 हिमानी अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.7 हिमानी निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थल रूप

4.8 पवन के कार्य : अपरदन एवं निक्षेपण

4.9 पवन अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.10 पवन निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.11 सागरीय जल के कार्य : अपरदन एवं निक्षेपण

4.12 सागरीय जल (तरंगों) के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.13 सागरीय जल (तरंगों) के निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.14 कार्स्ट स्थलाकृतियाँ

4.15 भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलरूप

4.16 भूमिगत जल के निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूप

KEXAMS

इकाई–4

भू–आकृतिक प्रक्रियाएँ

धरातल पर परिवर्तन लाने वाली अन्तर्जात व बाह्यजात बलों के द्वारा अनेक भौतिक व रासायनिक परिवर्तन आते हैं धरातल (भूतल) पर परिवर्तन लाने वाले इन बलों को ही सम्मिलित रूप से भू–आकृतिक प्रक्रियाएँ कहते हैं।

बाह्यजात भू–आकृतिक प्रक्रियाओं में अपरदन सबसे महत्वपूर्ण कारक होता है। अपरदन के विभिन्न गतिशील साधन (नदी, पवन, हिमानी) धरातल पर विभिन्न स्थलरूपों का निर्माण करते हैं।

अपरदन

अपरदन से तात्पर्य कुतरने से होता है। अतः अपरदन शब्द से तात्पर्य उस क्रिया से है जिसके अंतर्गत अपरदन के विभिन्न साधन– नदी, हिमनदी, वायु, भूमिगत जल और समुद्री लहरें धरातल की चट्टानों को खुरचते हुए तथा उनके चट्टानी मलबे को अलग कर उसे अपने साथ बहाकर अन्यत्र ले जाते हैं। इस प्रकार संक्षेप में, चट्टानों के अपघर्षण, क्षरण तथा परिवहन के सामूहिक रूप को अपरदन कहा जाता है।

अपरदन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के तीन प्रमुख अंग हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

1. अपक्षय द्वारा तैयार शैल मलबे को गतिशील शक्तियों द्वारा ग्रहण करना।
2. प्राप्त शैल मलबे को गतिशील शक्तियों द्वारा अन्यत्र बहाकर ले जाना अर्थात् परिवहन करना।
3. परिवहन के साथ चट्टानी टुकड़ों का पारस्परिक घर्षण से टूटना–फूटना तथा सम्पर्क में आने वाली भू–पटल की चट्टानों का अपघर्षण करना अर्थात् खुरचना।

इसमें चट्टानी टुकड़े अपरदन के लिए औजार का कार्य करते हैं, तथा अपने मार्ग में आने वाली चट्टानों का विभिन्न प्रकार से अपरदन करते हैं।

नदी की गतिशीलता

भूतल पर समतल स्थापक बलों में बहते हुए जल (नदी) का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

नदी के कार्य

सेलिसबरी के अनुसार नदी के मुख्य कार्यों में से एक "स्थल को सागर तक ले जाना है।"

नदी के तीन कार्य होते हैं–

1) **नदी का अपरदनात्मक कार्य :** नदी अपरदन का तात्पर्य नदी के जल द्वारा नदी धारा तथा उसके दोनों पार्श्वों का किसी विधि द्वारा तोड़ने–फोड़ने की क्रिया से है।

नदी का अपरदनात्मक कार्य मुख्यतः दो प्रकार से सम्पादित होता है–

(1) रासायनिक तथा (2) भौतिक

2) **नदी का परिवहन कार्य :** अनाच्छादन के सभी साधनों में नदियों द्वारा परिवहन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

नदी परिवहन कार्य निम्न चार विधियों द्वारा करती है–

(1) कर्षण (2) उत्परिवर्तन (3) निलम्बन (4) घुलकर

3) **नदी का निक्षेपण कार्य :** नदी में जब बोझ की मात्रा इतनी हो जाती है कि वह उसका परिवहन नहीं कर पाती तो वह उसे जहाँ–तहाँ जमा कर देती है, इसे निक्षेपण कहते हैं।

नदी के वेग में कमी तथा नदी के बोझ में वृद्धि होने पर निक्षेपण का कार्य करती है।

नदी अपरदन से निर्मित भू–आकृतियाँ

नदी अपरदन द्वारा निर्मित प्रमुख स्थलरूप निम्न हैं–

1) "वी" आकार की घाटी– नदियाँ अपने युवावस्था में पर्वतीय क्षेत्रों में लम्बवत् अपरदन द्वारा गहरी एवं संकीर्ण अर्थात् V- आकार की घाटी का निर्माण करती हैं। परन्तु जहाँ शैलें कठोर होती हैं वहाँ पर V गहरी और संकीर्ण होती है। जिसे गार्ज करते हैं।

2) जल प्रपात– जब नदियों का जल ऊँचाई से खड़े ढाल से अत्यधिक वेग से नीचे गिरता है तो उसे जल प्रपात कहते हैं। जब कठोर शैलों का ढाल नदी के साथ होता है तो क्षिप्रिका बन जाते हैं।

3) क्षिप्रिकाएँ– नदी की तली में असमान संरचना वाली शैलें बिछी होने पर उनका विषम अपरदन होता है जिससे तीव्र ढाल उत्पन्न होता है (किन्तु यह ढाल प्रपात जैसा तीव्र नहीं होता) इसे क्षिप्रिकाएँ कहते हैं।

4) जलज गर्तिकाएँ– नदी की तली में जल की भवरों द्वारा कंकड़, पत्थर आदि प्रावार शैल के पदार्थ बरमे की तरह छेदन की क्रिया करते हैं जिससे छोटे–छोटे गर्त बन जाते हैं। ये गर्त क्रमशः विकसित होकर जलज गर्तिका बनते हैं।

5) संरचनात्मक सोपान– नदी के मार्ग में कभी–कभी कठोर तथा मूलायम चट्टानों की परतें क्रम एक दूसरे के बाद क्षैतिज अवस्था में मिलती हैं। इस परिस्थिति में कटाव भिन्न दर से होता है। कठोर चट्टानों की अपेक्षा कोमल चट्टानें शीघ्र कट जाती हैं। इस तरह विशेष अपरदन द्वारा सोपानाकार सीढ़ियों का नदी की घाटी के दोनों ओर निर्माण हो जाता है। इन्हें संरचनात्मक सोपान की संज्ञा प्रदान की जाती है।

6) नदी वेदिकाएँ– नदी की घाटी के दोनों ओर सोपानकार वेदिकाएँ मिलती हैं, जो नदी के प्रारम्भिक बाढ़ मैदान के अवशिष्ट चिन्ह होती हैं। नदी वेदिकाएँ एक रूप में नदी के पुनर्युवन की परिचायिका होती हैं। अर्थात् प्राचीन घाटी नवीन घाटी से एक सीढ़ी या सोपान द्वारा अलग होती हैं। इसी सोपान को नदी वेदिका कहते हैं।

नदी नक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

नदी निक्षेपण द्वारा निम्न स्थलाकृतियों का निर्माण करती हैं –

1) जलोढ़ पंख एवं शंकु– नदियों द्वारा पर्वतीय ढाल के आधार तल के पास अर्द्धवृत्ताकार रूप में पदार्थों का निक्षेपण, जो आकृति में पंख के समान होता है, जलोढ़ पंख कहलाता है। पंख की रचना उस समय होती है, जबकि पर्वतीय ढाल अधिक तीव्र न हो जल की मात्रा मलवे की अपेक्षा अधिक हो।

जब ढाल से अधिक वृद्धि होने पर तथा जल की अपेक्षा मलवा अधिक होने पर मलवा दूर तक न फैलकर सीमित क्षेत्र में शंकु का रूप धारण कर लेता है, जिसे जलोढ़ शंकु कहा जाता है।

2) नदी विसर्प– मैदानी क्षेत्रों में नदियों का क्षैतिज अपरदन अधिक सक्रिय होने के कारण नदियाँ सीधे मार्ग से न प्रवाहित होकर बलखाती हुई टेढ़े–मेढ़े रास्ते से होकर चलती है। इस कारण नदी के मार्ग में छोटे–बड़े मोड़ बन जाते हैं। इन मोड़ों को ही नदी विसर्प कहते हैं।

3) छाड़न झील या गोखुर झील– जब नदियाँ अपने विसर्प को त्यागकर सीधे प्रवाहित होने लगती है, तब नदियों का विसर्प अवशिष्ट भाग छाड़न या गोखुर झील कहलाता है।

4) बाढ़ का मैदान– मैदानी भाग में भूमि समतल होती है। अतः नदी में जब बाढ़ आ जाती है तो बाढ़ का जल नदी के समीपवर्ती समतल प्रायः भाग में फैल जाता है। इस जल में बालू एवं मिट्ट मिली हुई रहती है। बाढ़ के हटने के बाद यह मिट्टी वहीं जमा हो जाती है। मिट्टी के निक्षेपण से सम्पूर्ण मैदान समतल और लहरदार प्रतीत होता है। ऐसे मैदान को बाढ़कृत मैदान कहा जाता है।

5) तटबन्ध– नदी के दोनों किनारों पर मिट्टियों के जमाव द्वारा बने लम्बे–लम्बे बन्धों को, जो कि कम ऊंचाई वाले कल्क के समान होते हैं, तटबन्ध कहते हैं। चूंकि ये बन्ध प्रकृति द्वारा बनाये जाते हैं तथा इनसे बाढ़ के समय सुरक्षा होती है, अतः उन तटबन्धों को प्राकृतिक तटबन्ध कहते हैं।

6) डेल्टा– नदी जब झील या सागर में गिरती है तो वह लाए गये मलवा के निक्षेपण से एक विशेष प्रकार के स्थलरूप का निर्माण कर देती है जिसे डेल्टा कहते हैं। अर्थात् डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह समतल मैदान होता है, जिसका ढाल सागर की ओर होता है। आकृति के अनुसार डेल्टा निम्न प्रकार के होते हैं–

1. चापाकर डेल्टा (नील, राइन, गंगा नदी)
2. पंजाकार डेल्टा (मिसीसिपी नदी)
3. ज्वारनदमुखी डेल्टा (मैकेंजी नदी)
4. परित्यक्त डेल्टा (हांगहो)

हिमानी के कार्य

हिमानी के कार्य निम्न हैं –

1) हिमानी का अपरदन कार्य– हिमानी का अपरदन कार्य विवादास्पद है। संरक्षणवादी विद्वानों के अनुसार स्थायी या स्थिर हिम नीचे की शैलों को ढककर उन्हें संरक्षण प्रदान करता है। अपरदन के समर्थकों के अनुसार गतिशील हिम विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शैलों का अपरदन करती है।

2) हिमानी का परिवहन कार्य– नदी की भाँति हिमानी में भी विभिन्न आकार वाले शिलखण्डों व शिला चूर्ण का परिवहन होता है। किन्तु नदी के विपरीत हिमानी में सभी प्रकार के पदार्थ एक साथ आगे बढ़ते हैं तथा नदी की अपेक्षा हिमानी में अधिक भारी शिलाखण्डों को ढोने की क्षमता होती है।

3) हिमानी का निक्षेपात्मक कार्य– हिम के पिघलने पर अधिकांश पदार्थ वहीं पर छूट जाते हैं।

हिमानी अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

हिमानी अपरदन द्वारा निम्न स्थलाकृतियों का निर्माण होता है –

1) 'U'- आकार की घाटी– हिमानी द्वारा घाटियों की रचना नहीं होती अपितु पुरानी घाटियों का रूप परिवर्तन अवश्य होता है। ज्यों–ज्यों हिमानी घाटी में आगे बढ़ती हैं

त्यों–त्यों शैलें घिसती जाती हैं और शैल बाहुओं के अग्र भाग एवं तीव्र धारे घिस–घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। V- आकार की घाटियाँ आकार में बदल जाती हैं। इन्हें U- आकार की घाटी कहते हैं।

2) सर्क– सर्क हिमनद् की घाटी के शीर्ष भाग पर एक अर्द्धवृत्ताकार या आराम कुर्सी की तरह आकृति वाला विशाल गर्त होता है, जिसका किनारा खड़े ढाल वाला या अवतल होता है। इसे हिमगर्त भी कहते हैं।

3) खरीट– किसी पर्वत के दोनों ओर सर्फ के विकसित होने से मध्य का भाग अपरदित होकर नुकीला हो जाता है जिसे खरीट कहते हैं।

4) हार्न– जब किसी पहाड़ी के पार्श्वों पर एक सर्फ बन जाते हैं तथा जब निरन्तर अपघर्षण द्वारा ये पीछे हटते जाते हैं तो उनके मिल जाने पर एक पिरामिड के आकार की चोटी का निर्माण होता है। इस तरह की नुकीली चोटी को हार्न कहते हैं।

5) नुनाटक– हिमाच्छादन के बीच ऊँचे उठे टीले, जो कि चारों तरफ से हिम से घिरे होते हैं, नुनाटक कहे जाते हैं।

6) रॉशमुटोने– हिमानीकृत क्षेत्रों में हिम अपरदित शिलाएँ दूर से देखने पर ऐसी दिखती है मानो मुलायम ऊन वाली भेड़ बैठी है। इन्हें रॉशमुटोने या भेड़ पीठ शैल कहते हैं।

7) हिमसोपान– घाटी हिमनद् के अपरदन द्वारा उत्पन्न स्थलरूपों से सर्फ के बाद सर्वाधिक चित्ताकर्षक किन्तु आश्चर्यचकित करने वाला स्थलरूप हिमसोपान होता है।

हिमानी निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृति

हिमानी निक्षेपण द्वारा निम्न स्थलरूपों का निर्माण होता है–

1) हिमोढ़– जब हिमनदियाँ पर्वतों से खिसक कर हिम रेखा से नीचे उतरती है तो तापमान बढ़ने से वे पिघलती है और अपने साथ बहाए हुए अवसाद का निक्षेप कर देती है। यह निक्षेप विभिन्न आकार और रूप के होते हैं। इनको हिमोढ़ कहते हैं। हिमोढ़ निम्न प्रकार के होते हैं–

(1) पार्श्विक हिमोढ़ (2) तलस्थ हिमोढ़ (3) मध्यस्थ हिमोढ़ (4) अन्तस्थ हिमोढ़

2) एस्कर– हिमानी–जलोढ़ निक्षेप द्वारा निर्मित स्थलरूपों में एस्कर सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं हिम के पिघलने से प्राप्त जलधाराओं द्वारा मलवा के निक्षेपण से निर्मित एस्कर लम्बे, संकरे, कल्क होते हैं जिनके किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं।

3) केम– हिमनद् के अग्रभाग पर हिम के पिघलने के कारण कुछ मलवा का निक्षेप ढेर के रूप में या टीले के रूप में हो जाता है। इस तरह के टीलों को केम कहा जाता है। केम के किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं। केम की रचना रेत तथा बजरी द्वारा होती है।

4) ड्रमलिन– यह मुख्य रूप से भूमि हिमोढ़ द्वारा निर्मित विशिष्ट प्रकार की सीधी, गोल टीलों वाली पहाडियाँ होती हैं जिनक आधार दीर्घ वृत्ताकार होता है। एक उल्टी नाव के समान इनकी आकृति होती है।

पवन के कार्य

1) पवन का अपरदनात्मक कार्य– पवन का अपरदनात्मक कार्य भौतिक तथा यान्त्रिक प्रक्रमों द्वारा होता है। स्वयं पवन द्वारा कुछ रासायनिक क्रिया अवश्य होती है। अपरदन के पूर्व यान्त्रिक अपक्षय के द्वारा शैलें ढीली पड़ जाती हैं, जिसे पवन सरलता से अपरदित करके स्थानान्तरित करती है।

2) पवन का परिवहन कार्य– अपरदन के अन्य कारकों की अपेक्षा पवन का परिवहन कार्य अनिश्चित होता है। इसका कारण स्पष्ट ही है, पवन का वेग सदैव एकसा नहीं होता, इसकी प्रवाह दिशा भी अनिश्चित होती है।

3) पवन का निक्षेपात्मक कार्य– पवन का निक्षेपण कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। तीव्र वेग से चलती हुई पवन अपने साथ अधिक पदार्थ का परिवहन करती है। जैसे ही पवन के मार्ग में कोई बाधा आती है अथवा पवन की गति किसी अन्य कारण से रुक जाती है तो पवन के द्वारा परिवहित पदार्थ का निक्षेपण होने लगता है। इससे आकृतियों का निर्माण होता है।

पवन अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

पवन अपरदन द्वारा निम्न स्थलाकृतियों का निर्माण होता है–

1) **वात गर्त–** पवन धरातल की ढीली तथा असंगठित शैलों को अपवहन क्रिया द्वारा उड़ाकर ले जाती है। इससे छोटे–छोटे गर्त बन जाते हैं जिन्हें वातगर्त कहते हैं।

2) **इन्सेलबर्ग–** उच्च मरुस्थलीय प्रदेश में यत्र–तत्र कुछ ऊँचे टीले दिखाई पड़ते हैं। ये ग्रेनाइट शैल के अपरदन के कारण बनते हैं। इनका आकार पिरामिड तथा गुम्बद की तरह होता है। इनको इन्सेलबर्ग कहते हैं।

3) **छत्रकशिला–** मरुस्थलीय भागों में यदि कठोर शैल के रूप में ऊपरी आवरण के नीचे कोमल शैल लम्बवत् रूप से मिलती हैं तो वह पवन के अपघर्षण के प्रभाव से छतरीनुमा आकृति धारण कर लेती है, जिसे छत्रक शिला की संज्ञा दी जाती है।

4) **भू–स्तम्भ–** शुष्क प्रदेशों में जहाँ पर असंगठित तथा कोमल शैल के ऊपर कठोर तथा प्रतिरोधी शैल का आवरण होता है वहाँ पर इस आवरण के नीचे की कोमल शैल को संरक्षण मिल जाने के कारण अपरदन नहीं हो पाता जबकि समीपवर्ती कोमल शैलों का अपरदन होता रहता है। कठोर आवरण वाला भाग एक स्तम्भ के रूप में दिखायी देता है जिसे भू–स्तम्भ कहते हैं।

5) **ज्यूजेन–** मरुस्थलीय भागों में जब कठोर चट्टानों के ऊपर कोमल संरचना वाली चट्टानें क्षैतिज रूप में बिछी होती हैं तब कोमल चट्टानों को काटकर हवायें ढ़क्कनदार दवात की आकृति बनाती हैं, जो विकसित होकर संकरी घाटी का रूप ले लेती है, ऐसी आकृति को ज्यूजेन कहते हैं।

6) **यारडंग–** यारडंग की रचना ज्यूजेन के विपरीत होती है। जब कोमल तथा कठोर चट्टानों की परतें पवन प्रवाह की दिशा में लम्बवत् होती हैं तो कठोर चट्टानों की अपेक्षा कोमल चट्टानें अधिक अपरदित होने लगती हैं और वहाँ गहरी और लम्बी नालियाँ निर्मित हो जाती हैं, जिसे यारडंग कहते हैं।

7) **ड्राइकांटर–** तीन फलक वाले वोल्डर को ड्राईकांटर कहते हैं पथरीले मरुस्थल में सतह पर खड़े शिलाखण्डों पर पवन द्वारा कई दिशाओं से होने वाले अपरदन से ऐसी आकृति निर्मित होती है।

8) जालीदार शिला– मरुस्थलीय भागों में जब सशक्त पवन के सामने ऐसी शिलायें पड़ जाती हैं जिनके विभिन्न भागों में कठोरता की प्र्याप्त भिन्नता होती है तो पवन रेत कणों की सहायता से अपघर्षण द्वारा शैल के कोमल भागों को अपरदित कर जाली का निर्माण करता है, जिसे जालक शैल कहते हैं।

पवन निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

पवन निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ निम्न हैं–

1) बालुका स्तूप– पवन द्वारा रेत एवं बालू के निक्षेप से निर्मित स्तूपों को बालुका स्तूप कहा जाता है। यह स्थलाकृति शुष्क एवं अर्ध–शुष्क रेगिस्तानों, सागरतटीय भागों तथा अन्य स्थानों पर जहाँ कि रेत अधिक मात्रा में सुलभ हो बनती हैं।

2) बरखान– अर्द्धचन्द्राकार आकृति वाला बालू का टीला जो पवनाभिमुखी दिशा में दो सींगाकार नुकीली आकृति बनाता है, बरखान कहलाता है। ये तुर्की में अधिक संख्या में पाये जाते हैं।

3) बालसन, प्लेया, बजादा एवं पेडीमेंट– रेगिस्तानी भागों में पर्वतों से घिरी बेसिन को बालसन कहा जाता है। चारों तरफ से छोटी–छोटी नदियाँ निकलकर बालसन में जाती हैं। परन्तु कुछ तो रास्ते में ही सूख जाती हैं। इन नदियों से बालसन में जल के एकत्र हो जाने से अल्पकालिक झीलों का निर्माण हो जाता है। जल सूखते ही ये झीले समाप्त हो जाती हैं। जिस कारण बालसन की तली में सिल्ट एवं नमक के निक्षेप के कारण वह (तली) समतल तथा ऊँची हो जाती है। इसे प्लेया कहा जाता है।

प्लेया तथा पर्वतीय अग्रभाग के मध्य मन्द ढाल वाले मैदान होते हैं। इस मैदान का निचला भाग जो कि प्लेया से मिलता है, बजादा कहा जाता है। पर्वतीय अग्रभाग तथा बजादा के मध्य अपरदित शैल सतह वाले सामान्य ढाल वाले भाग को पेडीमेण्ट कहते हैं।

4) लोयस– मरुस्थलीय क्षेत्रों के बाहर पवन द्वारा उड़ाकर लाये गये महीन कणों के बृहद जमाव को लोयस कहा जाता है। इसमें संस्तरों का अभाव होता है।

सागरीय जल के कार्य

सागरीय जल के निम्न कार्य होते हैं–

1) सागरीय अपरदन– सागरीय तरगें तटवर्ती भूमि का अपरदन करते हैं। सागरीय तरगें निम्न रूप में तटवर्ती भूमि का अपरदन करते हैं।

(1) अपघर्षण (2) संक्षारण (3) सांनिघर्षण

(4) जलीय दाब की क्रिया (5) जल गति क्रिया।

2) सागरीय परिवहन– अपरदन के अन्य साधनों की अपेक्षा तरंगों का परिवहन कार्य विचित्र होता है। तलछट या मलवे का परिवहन कभी स्थल की ओर होता है और कभी सागर की ओर। कभी यह तट के समान्तर होता है तथा कभी गहरे व खुले समुद्र की ओर।

3) सागरीय निक्षेप– तटीय भागों से अपरदित पदार्थ समुद्र में क्रम से निक्षेपित होते हैं। नीचे भारी शिलाखण्ड, फिर छोटे व बड़े काण, उसके ऊपर बालू व मिट्टी के स्तर बिछते जाते हैं। धाराएँ तथा ज्वार भी निक्षेप में सहयोग देते हैं। निक्षेप की अवस्थिति गुरत्व से नियंत्रित होती है। निक्षेपों में रेत, कवच, सीपी, शंख, चूनायुक्त नलीपोर जीवावशषे सम्मिलित हैं।

सागरीय अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

सागरीय तरंगों के अपरदन से निम्न स्थलाकृतियों का निर्माण होता है–

1) तटीय क्लिफ– सागर तरंगों द्वारा अपरदन से जब कोई सागर तट एकदम सीधा खड़ा होता है तब उसे तटीय भृग या तटीय क्लिफ कहा जाता है।

2) खाड़ी तथा सागरोन्मुख कगार क्रम– तटीय भाग में कोमल शैलों के शीघ्र अपरदन से कठोर शैल स्तर कगार के रूप में शेष रहते हैं तथा कोमल शैलों के स्थान पर खाड़ियाँ बनती हैं।

3) तटीय कन्दरा एवं महराब– सागरीय तरंगें कमजोर चट्टानों के संस्तर पर विशिष्ट अपरदन क्रियाओं द्वारा तटीय क्षेत्र में कन्दरा का निर्माण होता है।

जब समुद्र की ओर बढ़े भाग पर दोनों विपरीत दिशाओं से सागरी तरंगों द्वारा कन्दराओं का निर्माण होता है तो दोनों कंदराओं के मिलने से महराब का निर्माण होता है।

4) **स्टैक–** मेहराब के ध्वस्त होने से चट्टान का अग्र भाग समुद्री जल के बीच एक स्तम्भ की भाँति खड़ा रहता है, जिसे स्टैक कहा जाता है।

5) **लघु निवेशिका–** जब तट के समान्तर क्रमशः कठोर तथा कोमल चट्टानों की परतों का विस्तार होता है तो तरंगों द्वारा कोमल चट्टान वाले भागों में अण्डाकार कटान तथा उससे निर्मित आकृति को लघु निवेशिका कहते हैं।

<u>सागरीय निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ</u>

सागरीय तरंगों के निक्षेपण द्वारा निम्न स्थलाकृतियों का निर्माण होता है–

1) **रोधिका–** तरंगों तथा धाराओं द्वारा निक्षेप के कारण निर्मित कल्क या बांध को रोधिका कहा जाता है। जब रोधिकाओं का निर्माण तट से दूर इस तरह होता है कि तट के प्रायः समानान्तर होती हैं परन्तु तट से सम्बद्ध नहीं होती हैं तो उन्हें अपतट रोधिका कहते हैं।

2) **स्पिट–** जब सागरीय मलवा का निक्षेप इस तरह होता है कि वह रोधिका के रूप में जल की ओर निकला होता है तो उसे स्पिट कहते हैं। स्पिट का एक भाग तट के शीर्षस्थल से संलग्न होता है तथा दूसरा सिरा सागर की ओर निकला तथा खुला होता है।

3) **संयोजक रोधिका–** दो शीर्ष स्थलों अथवा किसी द्वीप को तटों से जोड़ने वाली रोधिका को संयोजक रोधिका कहते हैं।

तट तथा रोधिका के बीच सागरीय जल जब बन्द हो जाता है तो उसे लैगून कहते हैं, जो खारे जल की झील होती है।

4) **हुक–** जब स्पिट का सागर की ओर निकला हुआ भाग तट की ओर मुड़ जाता है तो वह अंकुश के आकार का हो जाता है। कभी–कभी एक स्पिट में कई हुक बन जाते हैं तब उसे मिश्रित हुक कहते हैं।

KEXAMS

5) लूप– कभी–कभी स्पिट मुड़कर पुनः तट से जाकर मिल जाता है तब फंदे जैसी आकृति बनती है। कभी–कभी किसी द्वीप के चारों ओर स्पिट का विकास होता है जिसे लूप रोधिका कहते हैं।

6) पुलिन– सागर तटीय भागों में भाटा–जलस्तर और समुद्री व समुद्र तटीय रेखा के मध्य बालू, बजरी तथा गोलाश्म के अस्थायी जमाव को पुलिन कहते हैं।

7) खाड़ी रोधिका– जब रोधिका का विस्तार खाड़ी के सहारे इस प्रकार होता है कि खाड़ी के दोनों सिरे मिल जाते हैं तथा उनके पीछे व तट के मध्य लैगून स्थित होता है तो उसे खाड़ी रोधिका कहते हैं।

8) कस्प पुलिन– अधिकांश पुलिन के सागरवर्ती भाग में रेत, गोलाश्म, बजरी आदि के निक्षेप द्वारा पतले कल्क बन जाते हैं। ये कल्क सागर की ओर निकले रहते हैं। ऐसे पुलिन कवच कस्प पुलिन कहलाते हैं।

कार्स्ट स्थलाकृतियाँ

भूमिगत जल के अपरदन व निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों को कार्स्ट स्थलाकृतियाँ कहते हैं।

भूमिगत जल के कार्य

भूमिगत जल के कार्य निम्न हैं–

1) अपरदनात्मक कार्य– अपक्षय क्रिया के पश्चात् शैलों के सामूहिक स्थानांतरण में भूमिगत जल महत्वपूर्ण योग देता है। यह अपक्षय से ढीली शैलों को चिकनाहट प्रदान करता है जिससे वे बालू भूमि पर सरलता से खिसक पाती है।

2) परिवहन कार्य– भूमिगत जल का परिवहन कार्य बिल्कुल महत्वहीन होता है। कारण स्पष्ट है, भूमिगत जल की गति बहुत मंद होती है। अतः वह पदार्थ का परिवहन करने में समर्थ नहीं होता। केवल सूक्ष्म पदार्थों का ही परिवहन हो पाता है, वह भी केवल लुढ़क कर चलते हैं।

3) निक्षेपात्मक कार्य– भूमिगत जल का निक्षेपात्मक कार्य बहुत महत्वपूर्ण होता है। घुलन क्रिया द्वारा भमिगत जल में अनेक प्रकार के खनिज एवं रासायनिक पदार्थ मिल

जाते हैं। अवसाद की अधिकता होने पर भूमिगत जल में उस पदार्थ को बहाने की क्षमता नहीं होती, इसीलिये उस पदार्थ का निक्षेपण होने लगता है।

भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ निम्न हैं–

1) **टेरा रोसा–** चूने की सतह पर जल के रिसकर भूमिगत होने से घुलन क्रिया द्वारा लाल तथा मृत्तिका युक्त मिट्टियों के अवशेष छूट जाते हैं। ये सतह पर तथा खुले हुए जोड़ों में पाये जातेहैं। ये लेटराइट मिट्टियों से मिलते–जुलते हैं।

2) **लैपीज–** जब चुनायुक्त शैलों पर जल पड़ने से खड़ी सन्धियों पर विलयन क्रिया तेजी से होने लगती है तो चूना घुल जाने से वहाँ गड्ढे बन जाते हैं, जिनकी दीवारें सीधी होती हैं। ऐसी रचनाएं एक–दूसरे के समानान्तर दिखायी पड़ती हैं। इन्हें लैपीज या अवकूट कहा जाता है।

3) **घोल रन्ध्र–** चूने के प्रदेश में घोल रन्ध्रों का निर्माण बहुत व्यापक रूप से होता है। क्षैतिज परतों युक्त चूने के समतल धरातल पर कार्बन डाईऑक्साइड मिश्रित जल की घुलन क्रिया से असंख्य घोल रन्ध्र बनते हैं।

घुलन क्रिया द्वारा घोल रन्ध्रों का विस्तार होने पर अधिक बड़े आकार के विलयन छिद्र बनते हैं।

4) **डोलाइन–** विलयन छिद्रों का आकार बड़ा होने पर उन्हें डोलाइन कहते हैं।

5) **युवाला–** निरन्तर घोलीकरण के फलस्वरूप कई डोलाइन मिलकर एक वृहदाकार गर्त का निर्माण करते हैं। इस विस्तृत गर्त को युवाला कहा जाता है।

6) **पोलिजे–** जब कई यूवाला मिल जाते हैं तो अत्यन्त विशाल खाइयाँ बन जाती हैं। इन विस्तृत खाइयों को राजकुण्ड या पोलिजे कहते हैं।

7) **कन्दरा या गुफा–** भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित कन्दरायें कार्स्ट प्रदेशों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थलाकृति होती हैं। कन्दरायें ऊपरी सतह के नीचे एक रिक्त स्थान के रूप में होती हैं जिनकी रचना भूमिगत जल की घुलन क्रिया तथा अपघर्षण द्वारा होती है।

भूमिगत जल के निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलाकृतियाँ

भूमिगत जल के निक्षेपण द्वारा निम्नस्ताकृतियों का निर्माण होता है।

1. **स्टैलेक्टाइट–** कन्दरा की छत से रिसता हुआ जल धीरे–धीरे टपकता रहता है। इस जल में अनेक पदार्थ घुले रहते हैं। अधिक ताप के कारण वाष्पीकरण होने पर जल सूखने लगता है तथा कन्दरा की छत पर पदार्थों का निक्षेप होने लगता है। इस निक्षेप की आकृति पहले स्तम्भ के रूप में होती है जो क्रमशः फर्श की ओर विकसित होती है। इन्हें आकाशीय स्तम्भ भी कहते हैं।

2) **स्टेलेग्माइट–** कन्दरा की छत से टपकता हुआ जल फर्श पर क्रमशः एकत्रित होता रहता है। इससे फर्श पर भी स्तम्भ जैसी आकृति बनने लगती है। यह धीरे–धीरे छत की ओर विकसित होती है। इन्हें पातालीय स्तम्भ भी कहते हैं।

3) **गुहा स्तम्भ–** कभी–कभी स्टैलेक्टाइट एवं स्टेलेग्माइट एक–दूसरे की ओर बढ़ते हुए मिल जाते हैं तब एक स्तम्भ की रचना होती है।

4) **जियोड–** शैल सन्धियों तथा विवरों में सिलिका के निक्षेप एकत्रित हो जाते हैं इन्हें "जिओड" कहते हैं।

5) **शिरायें–** शैल सन्धियों में खनिजों का निक्षेपण होता है।

KEXAMS

सारांश

भू–आकृतिक प्रक्रियाओं अर्थात् भूपटल पर स्थलरूपों के निर्माण में अपरदन सबसे महत्वपूर्ण बाह्यजात कारक है। अपरदन के विभिन्न साधन (नदी, पवन, हिमानी, सागरीय जल) धरातल पर विभिन्न स्थलरूपों का निर्माण करते हैं।

नदी के अपरदन द्वारा (V-आकार की घाटी, गार्ज, जल प्रपात,नदी विसर्प) तथा निक्षेपण द्वारा (जलोढ़ पंख, शंकु, प्राकृतिक तटबन्ध, बाढ़ का मैदान व डेल्टा) आदि का निर्माण होता है।

हिमानी के अपरदन का निक्षेपण कार्य उच्च क्षेत्रों में देखने को मिलता है। हिमानी के अपरदन द्वारा (U- आकार की घाटी, सर्फ, हार्न, नुनाटक, भेड़ शिला, हिम सोपान, एरीट)तथा निक्षेपण द्वारा (हिमोढ़, ड्रमलिन, खस्कर व केम) आदि का निर्माण होता है।

पवन का कार्य शुष्क व अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में देखने को मिलता है। पवन के अपरदन द्वारा (वातगर्त, इंसेलवर्ग, ज्यूग्रेन, यारडंग) व निक्षेपण द्वारा (कोरिडोर, बरखान, लोयस मिट्टी, बालसन, प्लेया, बजादा) आदि का निर्माण होता है।

सागरीय तरंगों के अपरदन द्वारा (तटीय क्लिफ, तटीय कंदरा, महराब, स्टैक) व निक्षेपण द्वारा (पुलिन, रोधिका, स्पिट, हुक, लूप) आदि स्थलरुपों का निर्माण होता है।

भूमिगत जल का विशेष कार्य कास्ट प्रदेशों में देखने को मिलता है। भूमिगत जल के अपरदन द्वारा (लैपीज, घोलरन्ध्र, डोलाइन, युवाला, पोब्जे, कंदरा) व निक्षेपण द्वारा (स्टैलेक्टाइट, स्टैलेग्माइट व कंदरा स्तम्भ) आदि का निर्माण होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. भू–आकृतिक प्रक्रियाएँ क्या हैं?

प्रश्न 2. नदी के कार्यों का वर्णन करो।

प्रश्न 3. नदी अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों का उल्लेख करो।

प्रश्न 4. नदी निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थल रूपों का उल्लेख करो।

प्रश्न 5. हिमानी अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों का वर्णन करो।

प्रश्न 6. निक्षेपण द्वारा निर्मित हिमानी के स्थलरूपों को बताइये।

प्रश्न 7. पवन के कार्यों का वर्णन करो।

प्रश्न 8. पवन के अपरदन द्वारा निर्मित स्थलाकृतियों का उल्लेख करो।

प्रश्न 9. पवन निक्षेपण द्वारा निर्मित स्थलरूपों का वर्णन करो।

प्रश्न 10. सागरीय जल (तरंगों) के अपरदन द्वारा निर्मित आकृतियों का वर्णन करो।

KEXAMS

इकाई–5

अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

5.1 अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान : अर्थ

5.2 भूमि उपयोग

5.3 भूमि आकारिकी में जलविज्ञान

5.4 भू–आकृति विज्ञान एवं नगरीकरण

5.5 भू आकारिकी एवं पर्यावरण

5.6 भू–आकृति विज्ञान एवं प्रकोप प्रबन्धन

5.7 सारांश

इकाई–5

अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान

अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान को अनुप्रयुक्त भू–आकृति भी कहते हैं। अनुप्रयुक्त भू–आकृति का मुख्य ध्येय पृथ्वी पर मानव की सुख समृद्धि तथा समुन्नति के लिए भू–आकृतियों एवं भू–संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करने में सर्वेक्षण तथा विश्लेषण करने की भू–आकृतिकीय विधियों तथा तकनीकों का अनुप्रयोग करना एवं उन अनुप्रयोगों से मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति और समस्याओं को हल करना है। पिछले कुछ वर्षों में मानवीय समस्याओं को सुलझाने तथा प्राकृतिक पर्यावरण के उचित उपयोग के लिए अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान का महत्व बहुत बढ़ गया है। विकासशील देशों में जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि से प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बहुत बढ़ गया है। बड़े पैमाने पर वनों का नाश तथा पहाड़ी एवं उपांत भूमि पर कृषि के विस्तार से मृदा अपरदन, भूस्खलन, सूखा, बाढ़ जैसी मानवकृत आपदाओं में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कई इलाकों में बड़े पैमाने पर नगरीकरण तथा उससे सम्बन्धित निर्माण कार्यों से पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। भू–आकृति विज्ञान अधिकांश समस्याओं की पहचान करके उनका समधान ढूंढ़ने में हमारी सहायता कर सकता है।

भू–आकृति विज्ञान में मात्रात्मक विधियों, सुदूर संवेदन, वायु फोटो विश्लेषण आदि के प्रयोग से इसकी व्यावहारिक उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। इसके परिणामस्वरूप कृषि वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, भू–वैज्ञानिकों, भूगोलवेत्ताओं, योजनाकारों तथा आय विशेषज्ञों को अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान का महत्व अधिकाधिक महसूस होने लगा है। स्पष्ट है कि आधुनिक युग में अनुप्रयुक्त आकृति विज्ञान की उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान का प्रयोग बहुत से क्षेत्रों में किया जाता है। **वरसतम्पन** ने सन् 1983 में निम्न क्षेत्रों में अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान के उपयोग का वर्णन किया :

1) प्राकृतिक संसाधनों के स्थलाकृतिक तथा थीमेटिक मानचित्रण सहित भू–विज्ञान।

2) पर्यावरण का अध्ययन विशेषतया प्राकृतिक आपदाएं, भू–स्खलन, हिमघाव, भूकम्प, ज्वालामुखी विस्फोट, बाढ़, सूखा आदि।

3) ग्रामीण विकास ताथ परियोजना जिनमें भूमि उपयोग, मृदा अपरदन नियंत्रण, संसाधनों का संरक्षण तथा नदी बेसिन का विकास सम्मिलित है।

4) नगरीकरण, नगरों के विकास, नगरों की स्थिति का चयन तथा खनन।

5) इंजीनियरी जिसमें संचार नदी तथा तटवर्ती इंजीनियरी सम्मिलित है।

भूमि उपयोग

कृषि क्षेत्र में विभिन्न फसलों, पशुपालन, बागवानी आदि के लिए प्रयोग की जाने वाली भूमि का उपयोग निश्चित करने के लिए भू–सर्वेक्षण तथा भूमि–मूल्यांकन आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र में भूमि का वर्गीकरण करने के लिए उस प्रदेश का धरातलीय सर्वेक्षण करते समय उसके विभिन्न खण्डों का मूल्यांकन करना भी बहुत लाभकारी होता है। इसके निम्नलिखित तीन प्रक्रम हैं–

(1) उच्चावच का सर्वेक्षण

(2) स्थलाकृति विश्लेषण

(3) शैल प्रकारों का अध्ययन और मृदा विश्लेषण

कृषि क्षेत्र में विभिन्न फसलों के उत्पादन के लिए मिट्टी में उत्पादक तत्वों की आवश्यकता होती है। यह जानकारी प्राप्त करने के लिए मृदा मानचित्रों की रचना की जाती है। मृदा मानचित्र काफी हद तक स्थलाकृतिक मानचित्र ही होते हैं। मृदा का आधारभूत वर्गीकरण, इसकी भौतिक संरचना तथा कणों पर आधारित होता है। इस सन्दर्भ में पर्वतीय क्षेत्रों की मृदा में बड़े–बड़े आकार के कण, पत्थर के गोल टुकड़े तथा बहुत सी अन्य आकृतियों के मोटे–मोटे कण होते हैं। इसके विपरीत मैदानी मृदा बारीक कणों से निर्मित होती है और इसमें उपजाऊ तत्व अधिक मात्रा में होते हैं। इन्हीं तत्वों तथा गुणों के आधार पर मृदा मानचित्रों का निर्माण करने के लिए भू–आकृतिकी का अनुप्रयोग किया जाता है।

कृषि कार्यों में भूमि का उपयोग उसकी उत्पादकता के आधार पर किया जाता है। वह उत्पादकता उस क्षेत्र की भूमि के उपजाऊपन पर निर्भर करती है। मृदा के उपजाऊपन के साथ–साथ मृदा अपरदन भी एक मुख्य कारक होता है। मृदा अपरदन का नियंत्रण अकेले ढाल की प्रवणता ही नहीं करती बल्कि उसके साथ–साथ शैलों की रचना, पारगम्यता, घुलनशीलता भी नियंत्रित करते हैं।

जलविज्ञान में भूआकारिकी का अनुप्रयोग

मानव जीवन में जल एक मूलभूत आवश्यकता है। इसके विविध स्त्रोत हैं जैसे नदी, झील, जल स्त्रोत, कुँआ तालाब आदि। प्रत्येक के गुण तथा उपयोग का अध्ययन स्थलाकृति के सन्दर्भ में किया जाता है। स्थलाकृति का स्वभाव ही जल की मात्रा तथा उसके विदोहन को नियंत्रित करता है।

उदाहरण के लिए चूना पत्थर के क्षेत्र में चट्टान की प्रकृति व जल की मात्रा में गहरा सम्बन्ध होता है। चूना पत्थर शैल सरन्ध्र तथा प्रवेश्य होती है। अपरदन चक्र की आरम्भिक अवस्था में सतह पर वही जल की मात्रा अधिक होती है किन्तु घुलन क्रिया द्वारा क्रमशः जल रिसकर भूमिगत होता है तो धरातलीय नदियाँ भूमिगत हो जाती हैं तथा धरातल पर जल की आपूर्ति कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में कार्स्ट जल स्त्रोतों से ही जल प्राप्त होता है। इनका ज्ञान भूआकारिकी के अध्ययन से हो पाता है। चूना पत्थर क्षेत्र में कुँआ खोदने में भूआकारिकी के सिद्धान्त सहायक होते हैं। चूना पत्थर के ऊपर वहाँ बालुका पत्थर की परतें स्थित हों, वहाँ कुओं के लिये पर्याप्त जल मिलता है।

हिमानीकृत क्षेत्रों में भी स्थलाकृतिक इतिहास के अध्ययन से ही जल की उपलब्धता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अवक्षेप मैदान, अन्तर–टिल बजरी तथा वैलीटेन क्षेत्रों में भूमिगत जल की मात्रा अधिक होती है। परिहिमानी क्षेत्रों में भी भूमिगत जल बहुतायत से मिलता है। दबी हुई घाटियों में जल की मात्रा निक्षेपित अवसादों की प्रकृति पर निर्भर करती है। इन सबके अध्ययन एवं मानचित्रण से जल प्राप्ति में सुविधा होती है। हिमनीकृत क्षेत्रों में भूमिगत जल का प्रयोग घरेलू तथा औद्योगिक कार्यों के लिए किया जाता है।

KEXAMS

संयुक्त राज्य अमेरिका की टीज घाटी में 400 फीट मोटे हिमोढ़ निक्षेप बिछे हैं जिससे भूमिगत जल की अपार सम्भावनाएँ हैं।

भू–आकृति विज्ञान एवं नगरीकरण

भ्वाकृतिक दृष्टि से कमजोर एवं अनुपयुक्त क्षेत्रों (यथा–अस्थिर पहाड़ी, ढाल जलोढ़ सरिता क्षेत्र, सम्भावित अवतलन वाले क्षेत्र, क्लिफ निवर्तन वाला सागर तटीय क्षेत्र, विवर्तनिक एवं भूकम्पीय दृष्टि से कमजोर क्षेत्र, परमाफ्रास्ट आदि) में नगरीकरण एवं नगरी वृद्धि के निर्धारण में भ्वाकृतिक जानकारी का अत्यधिक महत्व होता है। नगरीय विकास में भ्वाकृतिक ज्ञान का प्रयोग नगरी भू–आकृति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। नगरी भू–आकृति विज्ञान जो व्यावहारिक भू–आकारिकी की अभिनव परन्तु उपयोगी शाखा है। स्थलरूपों एवं उनसे सम्बन्धित प्रक्रमों, भूपदार्थों एवं प्रकोपों नगरीकृत या नगरीकरण के सम्भावित क्षेत्रों के नियोजन, विकास एवं प्रबन्धन के लिए उपयोगी प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

इस प्रकार नगरी भू आकृति विज्ञान के अन्तर्गत किसी नगर की शैलिकीय एवं धरातलीय विशेषताओं, भ्वाकृतिक प्रक्रमों एवं जलीय दशाओं, जो नगरीकृत क्षेत्रों के आकार एवं नगरीकरण की दर एवं धरातलीय सतह की स्थिरता को निर्धारित करती है का अध्ययन किया जाता है। एक नगरी भू–आकृतिक विज्ञान की दोहरी भूमिका होती है–

- नगरी विकास के पहले अध्ययन (इसके अन्तर्गत क्षेत्र सर्वेक्षण, धरातल के वर्गीकरण) तथा
- नगरीकरण के समय एवं उसके बाद अध्ययन (नगरी विकास पर प्राकृतिक घटनाओं के प्रभाव तथा प्राकृतिक पर्यावरण पर नगरी विकास के प्रभाव से सम्बन्धित अध्ययन करना)

कई भ्वाकृतिक समस्याओं को नियोजकों एवं अभियन्ताओं द्वारा न समझ पाने के कारण विभिन्न पर्यावरण वाले क्षेत्रों में नगरी अधिवासों को क्षति होती है। ये सभी और कई अन्य समस्याएं आंशिक रूप से भ्वाकृतिक दशाओं की नासमझी या कुप्रबन्धन से उत्पन्न होती हैं। एक नगरी भू–आकृति विज्ञानी से यह अपेक्षा की जाती

है कि वह भ्वाकृतिक दशाओं (धरातलीय सतह की दशा) भ्वाकृतिक प्रक्रमों की प्रकृति, भूमि के गलत उपयोग एवं कुप्रबन्धन आदि से सम्बन्धित विवरण नगर नियोजकों, पर्यावरण प्रबन्धकों एवं अभियन्ताओं को सुलभ कराये। खासकर विकासशील देशों में नगरी क्षेत्रों के विस्तार एवं विकास के पहले भ्वाकृतिक दशाओं को जानने के बहुत कम प्रयास किये जाते हैं।

उत्तरी भारत में गंगा नदी के किनारों (यथा—इलाहबाद, वाराणसी आदि) एवं उसकी सहायक नदियों के किनारे पर अवस्थित जलोढ़ नगरों में भूपर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं क्योंकि भ्वाकृतिक दृष्टि से अनुपयुक्त क्षेत्रों (निचली भूमि वाले बाढ़ मैदान) में ढागर की वृद्धि हुई है। गंगा एवं यमुना नदियों के समागम स्थल पर बसा इलाहाबाद नगर तीन ओर से नदियों से घिरा है। 1970 से इस नगर के बाहरी भागों के भ्वाकृतिक दृष्टि से अनुपयुक्त निचले भागों में अनियंत्रित अधिवासों का अंधाधुंध बसाव हुआ है।

भूआकरिकी एवं पर्यावरण

प्रवाह बेसिन एक ऐसी भूआकृतिक इकाई है जिसमें उच्चावच, जलीय संसाधन, भूआकृतिक प्रक्रम तथा समस्त पर्यावरण के बीच सह—सम्बन्ध पाया जाता है तथा एक व्यापक समरूपता दष्टिगोचर होती है। भौतिक पर्यावरण का प्रभाव मानवीय क्रिया—कलापों तथा प्रतिक्रियाओं में परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिये चम्बल का प्रवाह बेसिन भयंकर बाढ़ों तथा बीहड़ों के कारण दीर्घकाल तक असामाजिक तत्वों, डाकुओं आदि का शरण स्थली रहा। चम्बल के बीहड़ों में बाढ़ के दौरान खेती, जनजीवन आदि क्षतिग्रस्त होते थे, स्वास्थ्य पर भी दुष्प्रभाव पड़ता था। दुर्गम बीहड़ों में डाकुओं का निवास था। किन्तु बीहड़ भूमि के उद्धार के बाद अब वहाँ कृषि एवं पशुचारण विकसित हो गया है, सड़कें तथा बस्तियाँ विकसित हो गयी हैं, इससे सामाजिक दशाओं में सुधार हुआ है। चम्बल घाटी की ही भाँति दामोदर, महानदी, कोसी, गंगा, यमुना, गोमती, घाघरा आदि नदियों के प्रवाह बेसिनों में भी बाढ़ों के प्रकोप से पर्यावरण विनाश हो रहा है। अतः इन सभी भूआकृतिक इकाइयों में भी नियोजन की परियोजनाएं बनाना आवश्यक है। भूआकरिकी का अनुप्रयोग करके अनेक क्षेत्रों तथा संसाधनों का विकास किया जा सकता है।

भू आकृति विज्ञान एवं प्रकोप प्रबन्धन

उन समस्त घटनाओं या दुर्घटनाओं को, जो या तो प्रकृतिक कारकों या मानवजनित कारकों से घटित होती हैं, चरम घटना कहते हैं। जो कभी–कभी घटित होती हैं तथा प्राकृतिक प्रक्रमों पर इतना अधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है कि विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यथा– अचानक विवर्तनिक संचलन के कारण भूकम्प तथा ज्वालामुखी का आविर्भाव, लम्बी अवधि तक सूखे की स्थिति, बाढ़, वायुमण्डलीय तूफान (टाइफून, हरिकेन, टारनेडो, सुनामी) आदि। प्राकृतिक या मानवजनित चरम घटनाओं को, जिनके द्वारा प्रलय एवं विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, धन–जन की अपार क्षति होती है, पर्यावरण प्रकोप कहते हैं।

सामान्यतया प्रकोप को प्राकृतिक तथा मानवजनित प्रक्रम के रूप में लिया जाता है जबकि विनाश त्वरित दुर्भाग्यपूर्ण चरम घटना को कहते हैं जिसके द्वार सामान्य रूप में समस्त जीवधारियों एवं मुथ्य रूप से मानव समुदाय के लिए क्षति होती हैं। विनाश त्वरित, तात्कालिक एवं अंधाधुंध रूप से घटित होता है इस तरह स्पष्ट है कि प्रकोप प्रक्रम हैं तथा विनाश उनके परिणाम हैं।

प्रकोपों की गहनता का आकलन उनके द्वारा हुई जन–धन की क्षति की मात्रा के आधार पर किया जाता है। किसी भी तरह के परिवर्तन को, चाहे व प्राकृतिक हो या मानवजनित जो स्थलरूपों की भ्वाकृतिक स्थिरता को इस तरह प्रभावित करे कि वह जीवधारियों के लिये आपदा बन जाए, भ्वाकृतिक प्रकोप कहते हैं। भ्वाकृतिक प्रकोप दीर्घकालिक प्रकोप (यथा–भूंसचलन द्वारा जनित धरातलीय अस्थिरता, पर्वत निर्माण, भ्रंशन, वलन) से अल्पकालिक प्रकोप (यथा–ज्वालामुखी उद्गार, भूकम्प, बाढ़) होते हैं।

प्राकृतिक भ्वाकृतिक प्रकोपों के सम्भावित खतरों एवं प्रभावों के निर्धारण, पूर्वकथन एवं आकलन तथा उनके प्रबन्धन में भ्वाकृतिक ज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है। किसी भी क्षेत्र में जहाँ पर पहले ज्वालामुखी के उद्गार हुए हैं उनकी निगरानी के आधार पर तथा ज्वालामुखियों की कतिपय आकृतिक विशेषताओं एवं उनके पूर्ववर्ती उद्गारों के आधार पर उनके भावी उद्गार की चेतावनी दी जा सकती है। निम्न द्वारा ज्वालामुखी के उद्गार की भविष्यवाणी की जा सकती है–

- भूकम्पलेखी द्वारा भूकम्पीय घटनाओं एवं भूकम्पन का नियमित मापन।
- टिस्ट मीटर द्वारा धरातलीय सतह में परिवर्तन का लगातार मापन।
- क्रैटर झील, गर्म जलस्त्रोत, गेसर आदि के तापमान का नियमित मापन एवं अंकन।
- क्रैटर, गर्म जलस्त्रोत, गेसर आदि से निकलने वाली गैसों की निगरानी।
- लेजर द्वारा सुसुप्त एवं शान्त ज्वालामुखियों की बनावट की निगरानी।
- स्थानीय गुरुत्व एवं मैग्नेटिक फील्ड आदि का मापन आदि।

नदी तंत्र एवं उसकी आकृतिक विशेषताओं (यथा–जलधारा, ज्यामिति, जलधारा आकारिकी एवं प्रतिरूप, नदी रूपान्तरण, नदी तट अकारिकी आदि) के भ्वाकृतिक अध्ययन से नदी की बाढ़ की रोकथाम में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। इस सन्दर्भ में निम्न विधियाँ सहायक होती हैं –

- मूसलाधार वृष्टि से उत्पन्न धरातलीय वाही जल के नदियों तक पहुंचने के समय में जल देरी करना।
- नदी की घुमावदार जलधारा को सीधा करके शीघ्र जल सिर्जन करना।
- वैकल्पिक जलधारा का निर्माण करके मुख्य जलधारा के बहाव को मोड़ना (दूसरे मार्ग से बहाना)।
- बाढ़ आने की पूर्व सूचना देना।

KEXAMS

सारांश

अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान में भू–आकृतिक विज्ञान की व्यवहारिकता का अध्ययन किया जाता है। इसमें अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान के अर्थ व महत्व को समझने का प्रयास किया जाता है।

इसमें भूमि उपयोग के विभिन्न रूपों का अध्ययन किया जाता है। जल के महत्व को समझा जाता है और उसके संरक्षण का प्रयास किया जाता है।

भू–आकृति विज्ञान व नगरीकरण के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है और आवश्यक परिस्थितियों को देखा जाता है। नगरीकरण द्वारा उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

भू–आकारिकी मे पर्यावरण व उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन कर उनके संरक्षण के विभिन्न तरीकों को बतलाया जाता है। विभिन्न पर्यावरण प्रकोपों (बाढ़, सूखा) के प्रभावों का अध्ययन होता है।

KEXAMS

महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रश्न 1. अनुप्रयुक्त भू–आकृति विज्ञान किसे कहते हैं, उल्लेख करो।

प्रश्न 2. अनुप्रयुक्त भू–आकृति में भूमि उपयोग का वर्णन करो।

प्रश्न 3. जलविज्ञान में भू–आकारिकी के अनुप्रयोग का उल्लेख करो।

प्रश्न 4. भू–आकृति विज्ञान एवं नगरीकरण का सम्बन्ध बताओ।

प्रश्न 5. भू–आकृति विज्ञान एवं पर्यावरण प्रकोप का वर्णन करो।

संदर्भ ग्रंथ

Bloom, A.L.,2002	Geomorphology, Printice-Hall of India Private Limited, New Delhi
Carson, R., 1962	Silent Springs, Penguin, Harmonds Worth
Durg,G.H., 1966	Essays in Geomorphology, Heinmann, London
Lobeck, A.K., 1939	Geomorphology, Mc Graw Hill, New York.
Singh, R.P.,1969	Geomorphological Evolution of Chota Nagpur, Highlands, National Geographical Society of India, B.H.U., Varanasi, Research Pubication No. 5
Sparks, B.W., 1960	Geomorphology, Longmas, Green, London
Singh, Savindra, 1974b	Cycle of erosion, its changing perspective, National Geographer, Vol.9, pp. 99-101

KEXAMS